प्रेम-पंचमी

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

प्रेम-पंचमी

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का ११६वाँ पुष्प

प्रेम-पंचमी

[मिडिल, मैट्रिक और प्रथमा के
विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त
५ सुंदर कहानियाँ]

लेखक

प्रेमचंद

[रंगभूमि, कर्बला, प्रेम-प्रसून, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-बत्तीसी,
प्रेम-पच्चीसी, प्रेमाश्रम, सेवा-सदन, प्रेम-पूर्णिमा,
सप्तसरोज, नवनिधि, कायाकल्प, वरदान,
गोदान, प्रतिज्ञा आदि के रचयिता]

—— :꙰: ——

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

चतुर्थावृत्ति

सजिल्द २)   सन् १९४७   [सादी १)]

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. लखनऊ-ग्रंथागार, लखनऊ
५. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
६. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
७. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
८. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके वहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

संसार में जिस दिन दादी और उसके नाती-पोता का आविष्कार हुआ, उसी दिन कहानी का भी जन्म हुआ। कहानियों का दादी और बच्चों के साथ अटूट संबंध है। बच्चों को विना कहानी सुने नींद नहीं आती, और दादी को विना कहानी सुनाए चैन नहीं पड़ता। इसीलिये शायद कहानी का आदिम इतिहास अज्ञात है। उसका सबसे प्रथम आभास हमें संसार के सभी देशों में प्रचलित दंत-कथाओं तथा धार्मिक साहित्य में मिलता है। बूढ़ी दादी के समान ही ये धार्मिक ग्रंथ भी अजान मानव-समाज को कहानियाँ सुना-सुनाकर सीधा रास्ता बतलाने का प्रयत्न किया करते हैं। हमारे देश के शास्त्र और पुराण, महाभारत और रामायण, सभी प्राचीन ग्रंथ कहानियों से भरे पड़े हैं। इन सब अनंत कथाओं का एकमात्र उद्देश्य है अज्ञानी और अबोध मनुष्य-समाज को शिक्षित बनाना। कहानी का यह महत्त्व-पूर्ण उपयोग हमारे देश में बहुत पहले से ही चला आया है। दादी की कहानियाँ भी प्रायः इसी उद्देश्य को लेकर कही जाती थीं। क्योंकि बालकों की अपरिपक्व मनोवृत्तियों को सुमार्ग में प्रवृत्त करने के लिये कहानी ही सबसे उत्तम साधन माना जाता था। आज दिन भी भारतीय तथा पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में कहानी को ही शिशु-शिक्षा का सर्वोत्तम माध्यम समझा जाता है। बालकों के लिये लिखी गई सभी पुस्तकें—गणित-जैसे रूखे विषय की भी—कहानियों से भरी रहती हैं। मनोरंजन के साथ शिक्षा प्रदान करने के लिये कहानी से बढ़कर साधन संसार ने अब तक नहीं ढूँढ़ पाया।

भाषा और लेखन-शैली की शिक्षा के लिये भी कहानी एक अत्यंत उपयोगी साधन समझी गई है। उसके द्वारा बालकों को साहित्य के प्रायः सभी अंगों की बारीकियों का ज्ञान कराया जा सकता है। एक अच्छी कहानी में नाटक के लिये उपयुक्त कथोपकथन, उपन्यास के लिये उपयोगी चरित्र-चित्रण, काव्य के उपयुक्त वस्तु-वर्णन तथा उत्तम निबंध के लिये लाभदायक विचार-विभ्राट् बड़ी आसानी से मिल सकते हैं। उत्तमोत्तम लेखकों की कहानियों के अध्ययन से भाषा के परिमार्जित रूप, उसके लिये आवश्यक ओज-पूर्ण तथा समयोचित शब्दावली के संगठन और भाव-व्यंजना के अनुरूप लेखन-शैली आदि का पूरा ज्ञान हो सकता है। पाठशालाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य तथा शैली का आवश्यक बोध कराने के लिये तो कहानी से बढ़कर दूसरा साधन ही नहीं। उनके पास बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा लिखे हुए निबंधों, उपन्यासों तथा नाटकों को पढ़ने के लिये समय ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रति-दिन पढ़ाए जानेवाले श्रेणी-पाठ के लिये बड़े-बड़े नाटक, उपन्यास भी अनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं। बालकों में स्थगित कथा-वस्तु के लिये प्रतीक्षा करने का भाव बहुत कम हुआ करता है। वे एक बार में ही, एक साँस में ही, पूरी कथा सुन लेना चाहते हैं। बासी कथानक में उन्हें ज़रा भी अभिरुचि नहीं रह जाती। अतएव उन्हें छोटी-छोटी स्वतंत्र कथाओं द्वारा ही हिंदी-साहित्य की बारीकियों, भाषा-सौष्ठव तथा साहित्य के आचार्यों की लेखन-शैली का ज्ञान कराना चाहिए। कहानियाँ ही उसके लिये सर्वोत्तम माध्यम होती हैं। अतएव हमारी सम्मति में हिंदी के आचार्यों द्वारा लिखी हुई छोटी-छोटी कहानियों के संग्रह ही बालकों की भाषा और साहित्य-विषयक शिक्षा के लिये उपयोग में लाने चाहिए, प्रचलित 'प्रोज़-सेलेक्शन' नामधारी भानमती के-से साहित्यिक पिटारे नहीं। उनसे किसी विषय का

सफल ज्ञान होने के बजाय ऐंद्रजालिक भ्रांति ही अधिक उत्पन्न होती है।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमने हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक श्रीयुत मुंशी प्रेमचंदजी की सैकड़ों कहानियों का आलोड़न करने के बाद नवनीत-सम यह उनकी पाँच सर्वोत्तम कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया है। इन कहानियों का संग्रह करने में हमने बालोपयोगिता को ही सबसे मुख्य लक्ष्य रक्खा है। कोई भी कहानी ऐसी नहीं रक्खी गई, जिसमें व्यर्थ के लिये राजनीतिक पचड़ों को घसीटा गया हो। साथ-ही-साथ दांपत्य प्रेम तथा यौवनोन्माद से संबंध रखनेवाली कहानियाँ भी हमने छोड़ दी हैं, क्योंकि हमारी समझ में वे कोमल-मति बालकों के लिये हानिकर ही हो सकती हैं, लाभदायक नहीं। भाषा तथा शैली की दृष्टि से भी ये कहानियाँ प्रेमचंदजी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इनमें उनकी शैली के सभी प्रकारों का समावेश हो गया है। 'मृत्यु के पीछे' कहानी में प्रेमचंदजी की आदर्श-सृष्टि, वर्णन-शैली तथा भावों की ऊहापोह पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। 'आभूषण' में उनका कथा-वस्तु पर अधिकार पूर्णतया प्रस्फुटित हुआ है। मनोविज्ञान का अध्ययन भी उसमें खूब विकसित हुआ है। मध्य श्रेणी के हिंदोस्तानी घर का उसमें सजीव चित्र देखने को मिलता है। 'राज्य-भक्त' में ऐतिहासिक आधार पर लिखी हुई उनकी इस तरह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। लखनऊ के अंतिम नवाबी दिनों का खाका-सा आँखों के सामने नाचने लगता है। 'अधिकार-चिंता' अपने ढंग की एक ही कहानी है। पशुओं की मनोवृत्ति का बड़ा ही सुंदर अध्ययन तथा प्राकृतिक दृश्य-वर्णन इस कहानी में मिलता है। प्रेमचंदजी की भाषा का लोच इस कहानी में पूर्णतया प्रकट होता है। गृह-दाह हिंदोस्तानी घरों में प्रतिदिन होनेवाले नाटकों का एक दृश्य है। आदर्श भ्रातृ-प्रेम का चित्रण जैसा इस

कहानी में हुआ है, वैसा शायद अन्यत्र कहीं नहीं हो सका। कथोपकथन (Dialogue) क महत्त्व भी इस कहानी में खूब प्रकट हुआ है।

इन पाँचो कहानियों के एकत्र कर देने में हमारा केवल यही उद्देश्य है कि वर्तमान हिंदी-साहित्य के प्रधान अंगों से परिचित होने के लिये हमारे बालकों को जगह-जगह न भटकना पड़े, मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें उत्तम शिक्षा मिले, और भाषा और शैली का अनुकरण करने के लिये उनके सामने हिंदी के जन-प्रिय तथा मान्य लेखक की कृति आदर्श-रूप से उपस्थित हो।

प्रस्तुत पुस्तक का स्टैंडर्ड हमारी पाठशालाओं के सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें दर्जे के विद्यार्थियों की क्षमता के अनुसार रक्खा गया है, जिससे स्कूल और पाठशालाओं के विद्यार्थी भी प्रेमचंदजी की विख्यात लेखन-शैली से परिचित हो सकें। इसका मैटर भी साल-भर में समाप्त हो जाने के हिसाब से ही संग्रह किया गया है।

आशा है, शिक्षा-प्रेमी सज्जन—विशेषकर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, मदरास-हिंदी-प्रचार - कार्यालय, जालंधर - कन्या-महाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल वृंदावन, पंजाब, यू० पी०, सी० पी०, बिहार, दिल्ली, राजपूताना आदि प्रांतों की टेक्स्ट-बुक-कमेटियाँ, इंटरमीडिएट-बोर्ड और युनिवर्सिटियाँ तथा अन्यान्य भारतवर्षीय शिक्षा-संस्थाएँ—हमारे इस उद्योग से संतुष्ट होंगे, और अपने बालकों तथा बालिकाओं में इस पुस्तिका का प्रचार बढ़ावेंगे।

श्रीदुलारेलाल
(संपादक)

विषय-सूची

प्रेम-पंचमी

मृत्यु के पीछे

(१)

बाबू ईश्वरचंद्र को समाचार-पत्रों में लेख लिखने की चाट उन्हीं दिनों पड़ी, जब वह विद्याभ्यास कर रहे थे। नित्य नए विषयों की चिंता में लीन रहते। पत्रों में अपना नाम देखकर उन्हें उससे कहीं ज्यादा खुशी होती थी, जितनी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने या कक्षा में उच्च स्थान प्राप्त करने से। वह अपने कॉलेज के 'गरम-दल' के नेता थे। समाचार-पत्रों में परीक्षा-पत्रों की जटिलता या अध्यापकों के अनुचित व्यवहार की शिकायत का भार उन्हीं के सिर था। इससे उन्हें कॉलेज में नेतृत्व का पद मिल गया था। प्रतिरोध के प्रत्येक अवसर पर उन्हीं के नाम नेतृत्व की गोटी पड़ जाती थी। उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं इस परिमित क्षेत्र से निकलकर संसार के विस्तृत क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता हूँ। सार्व-जनिक जीवन को यह अपना भाग्य समझ बैठे थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि अभी एम्० ए० के परीक्षार्थियों में उनका नाम निकलने भी न पाया था कि 'गौरव' के संपादक महोदय ने वानप्रस्थ लेने की ठानी, और पत्रिका का भार ईश्वरचंद्र दत्त के सिर पर रखने का निश्चय किया। बाबूजी को यह समा-

चार मिला, तो उछल पड़े—धन्य भाग्य कि मैं इस सम्मान-पद के योग्य समझा गया! इसमें संदेह नहीं कि वह इस दायित्व के गुरुत्व से भली भाँति परिचित थे, लेकिन कीर्ति-लाभ के प्रेम ने उन्हें बाधक परिस्थितियों का सामना करने पर उद्यत कर दिया। वह इस व्यवसाय में स्वातंत्र्य, आत्मगौरव अनुशीलन और दायित्व की मात्रा को बढ़ाना चाहते थे। भारतीय पत्रों को पश्चिम के आदर्श पर लाने के इच्छुक थे।, इन इरादों को पूरा करने का सुअवसर हाथ आया। वह प्रेमोल्लास से उत्तेजित होकर नदी में कूद पड़े।

(२)

ईश्वरचंद्र की पत्नी एक ऊँचे और धनाढ्य कुल की लड़की थी, और ऐसे कुलों की मर्यादप्रियता तथा मिथ्या गौरव-प्रेम से संपन्न थी। यह समाचार पाकर डरी कि पति महाशय कहीं इस झंझट में फँसकर क़ानून से मुँह न मोड़ लें। लेकिन जब बाबू साहब ने आश्वासन दिया कि यह कार्य उनके क़ानून के अभ्यास में बाधक न होगा, तो कुछ न बोली।

लेकिन ईश्वरचंद्र को बहुत जल्द मालूम हो गया कि पत्र-संपादन एक बहुत ही ईर्ष्या-युक्त कार्य है, जो चित्त की समग्र वृत्तियों का अपहरण कर लेता है। उन्होंने इसे मनोरंजन का एक साधन और ख्याति-लाभ का एक यंत्र समझा था। इसके द्वारा जाति की कुछ सेवा करना चाहते थे। इससे द्रव्योपार्जन का विचार तक न किया था। लेकिन नौका में बैठकर उन्हें

अनुभव हुआ कि यात्रा उतनी सुखद नहीं है, जितनी समझी थी। लेखों के संशोधन, परिवर्द्धन और परिवर्तन, लेखक-गण से पत्र-व्यवहार, चित्ताकर्षक विषयों की खोज और सहयोगियों से आगे बढ़ जाने की चिंता में उन्हें क़ानून का अध्ययन करने का अवकाश ही न मिलता था। सुबह को किताबें खोलकर बैठते कि १०० पृष्ठ समाप्त किए बिना कदापि न उठूँगा, किंतु ज्यों ही डाक का पुलिंदा आ जाता, वह अधीर होकर उस पर टूट पड़ते, किताब खुली-की-खुली रह जाती थी। वारंवार संकल्प करते कि अब नियमित रूप से पुस्तकावलोकन करूँगा, और एक निर्दिष्ट समय से अधिक संपादन-कार्य में न लगाऊँगा। लेकिन पत्रिकाओं का बंडल सामने आते ही दिल क़ाबू के बाहर हो जाता। पत्रों की नोक-झोंक, पत्रिकाओं के तर्क-वितर्क, आलोचना-प्रत्यालोचना, कवियों के काव्य-चमत्कार, लेखकों का रचना-कौशल इत्यादि सभी बातें उन पर जादू का काम करतीं। इस पर छपाई की कठिनाइयाँ, ग्राहक-संख्या बढ़ाने की चिंता और पत्रिका को सर्वांग-सुंदर बनाने की आकांक्षा और भी प्राणों को संकट में डाले रहती थी। कभी-कभी उन्हें खेद होता कि व्यर्थ ही इस झमेले में पड़ा। यहाँ तक कि परीक्षा के दिन सिर पर आ गए, और वह इसके लिये बिलकुल तैयार न थे। उसमें सम्मिलित न हुए। मन को समझाया कि अभी इस काम का श्रीगणेश है, इसी कारण ये सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

अगले वर्ष यह काम एक सुव्यवस्थित रूप में आ जायगा, और तब मैं निश्चिंत होकर परीक्षा में बैठूँगा। पास कर लेना क्या कठिन है। ऐसे बुद्धू पास हो जाते हैं, जो एक सीधा-सा लेख भी नहीं लिख सकते, तो क्या मैं ही रह जाऊँगा। मानकी ने उनकी ये बातें सुनीं, तो ख़ूब दिल के फफोले फोड़े—"मैं तो जानती थी कि यह धुन तुम्हें मटियामेट कर देगी। इसलिये बार-बार रोकती थी, लेकिन तुमने मेरी एक न सुनी। आप तो डूबे ही, मुझे भी ले डूबे।" उनके पूज्य पिता भी बिगड़े, हितैषियों ने भी समझाया—"अभी इस काम को कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दो, क़ानून में उत्तीर्ण होकर निर्द्वंद्व देशोद्धार में प्रवृत्त हो जाना!" लेकिन ईश्वरचंद्र एक बार मैदान में आकर भागना निंद्य समझते थे। हाँ, उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दूसरे साल परीक्षा के लिये तन-मन से तैयारी करूँगा।

अतएव नए वर्ष के पदार्पण करते ही उन्होंने क़ानून की पुस्तकें संग्रह कीं, पाठ्य-क्रम निश्चित किया। रोज़नामचा लिखने लगे, और अपने चंचल और बहानेबाज़ चित्त को चारो ओर से जकड़ा, मगर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने के बाद सरल भोजन कब रुचिकर होता है। क़ानून में वे घातें कहाँ, वह उन्माद कहाँ, वे चोटें कहाँ, वह उत्तेजना कहाँ, वह हलचल कहाँ। बाबू साहब अब नित्य एक खोई हुई दशा में रहते। जब तक अपने इच्छानुकूल काम करते थे, चौबीस घंटों में घंटे-दो घंटे क़ानून भी देख लिया करते थे। उस नशे

ने मानसिक शक्तियों को शिथिल कर दिया। स्नायु निर्जीव हो गए। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अब मैं क़ानून के लायक़ नहीं रहा, और इस ज्ञान ने क़ानून के प्रति उदासीनता का रूप धारण किया। मन में संतोष-वृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारब्ध और पूर्व-संस्कार के सिद्धांतों की शरण लेने लगे।

एक दिन मानकी ने कहा—"यह क्या बात है? क्या क़ानून से फिर जी-उचाट हुआ?"

ईश्वरचंद्र ने दुस्साहस-पूर्ण भाव से उत्तर दिया—"हाँ, भई, मेरा जी उससे भागता है।"

मानकी ने व्यंग्य से कहा—"बहुत कठिन है?"

ईश्वरचंद्र—"कठिन नहीं है, और कठिन भी होता, तो मैं उससे डरनेवाला न था; लेकिन मुझे वकालत का पेशा ही पतित प्रतीत होता है। ज्यों-ज्यों वकीलों की आंतरिक दशा का ज्ञान होता है, मुझे उस पेशे से घृणा होती जाती है। इसी शहर में सैकड़ों वकील और बैरिस्टर पड़े हुए हैं; लेकिन एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं, जिसके हृदय में दया हो, जो स्वार्थपरता के हाथों बिक न गया हो। छल और धूर्तता इस पेशे का मूल-तत्त्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आंदोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थ-सिद्धि के लिये, अपना ढोल पीटने के लिये। इन लोगों का समग्र जीवन वासना-भक्ति पर अर्पित हो जाता है। दुर्भाग्य से हमारे देश का शिक्षित-समुदाय इसी दर्गाह का मुजावर

होता जाता है, और यही कारण है कि हमारी जातीय संस्थाओं की शीघ्र वृद्धि नहीं होती। जिस काम में हमारा दिल न हो, हम केवल ख्याति और स्वार्थ के लिये उसके कर्णधार बने हुए हों, वह कभी सफल नहीं हो सकता। यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है, जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धि-बल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर चींटी बनना, अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।"

मानकी चिढ़कर बोली—"पहले तो तुम वकीलों की इतनी निंदा न करते थे।"

ईश्वरचंद्र ने उत्तर दिया—"तब अनुभव न था। बाहरी टीम टाम ने वशीकरण कर दिया था।"

मानकी—"क्या जाने तुम्हें पत्रों से क्यों इतना प्रेम है। मैं तो जिसे देखती हूँ, अपनी कठिनाइयों का रोना ही रोते हुए पाती हूँ। कोई अपने ग्राहकों से नए ग्राहक बनाने का अनुरोध करता है, कोई चंदा न वसूल होने की शिकायत करता है। बता दो कि कोई उच्च शिक्षा-प्राप्त मनुष्य कभी इस पेशे में आया है। जिसे कुछ नहीं सूझता, जिसके पास न कोई सनद है, न कोई डिग्री, वही पत्र निकाल बैठता है, और भूखों मरने की अपेक्षा रूखी रोटियों पर ही संतोष करता है। लोग विलायत जाते हैं, कोई पढ़ता है डॉक्टरी, कोई इंजीनियरी, कोई

सिविल सर्विस। लेकिन आज तक न सुना कि कोई एडीटरी का काम सीखने गया हो। क्यों सीखे? किसी को क्या पड़ी है कि जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं को खाक में मिलाकर त्याग और विराग में उम्र काटे। हाँ, जिन्हें सनक सवार हो गई हो, उनकी बात ही निराली है।"

ईश्वरचंद्र—"जीवन का उद्देश्य केवल धन-संचय करना ही नहीं है।"

मानकी—"अभी तुमने वकीलों की निंदा करते हुए कहा, ये लोग दूसरों की ही कमाई खाकर मोटे होते हैं। पत्र चलाने-वाले भी तो दूसरों की ही कमाई खाते हैं।"

ईश्वरचंद्र ने बग़लें झाँकते हुए कहा—"हम लोग दूसरों की कमाई खाते हैं, तो दूसरों पर जान भी देते हैं। वकीलों की भाँति किसी को लूटते नहीं।"

मानकी—"यह तुम्हारी हठधर्मी है। वकील भी तो अपने मुवक्किलों के लिये जान लड़ा देते हैं। उनकी कमाई भी उतनी ही हलाल है, जितनी पत्रवालों की। अंतर केवल इतना है कि एक की कमाई पहाड़ी सोता है, दूसरे की बरसाती नाला। एक में नित्य जल-प्रवाह होता है, दूसरे में नित्य धूल उड़ा करती है। बहुत हुआ, तो बरसात में घड़ी-दो घड़ी के लिये पानी आ गया।"

ईश्वर०—"पहले तो मैं यही नहीं मानता कि वकीलों की कमाई हलाल है, और मान भी लूँ, तो किसी तरह यह नहीं

मान सकता कि सभी वकील फूलों की सेज पर सोते हैं। अपना-अपना भाग्य सभी जगह है। कितने ही वकील हैं, जो झूठी गवाहियाँ देकर पेट पालते हैं। इस देश में समाचार-पत्रों का प्रचार अभी बहुत कम है, इसी कारण पत्र-संचालकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं। योरप और अमेरिका में पत्र चलाकर लोग करोड़पति हो गए हैं। इस समय संसार के सभी समुन्नत देशों के सूत्रधार या तो समाचार-पत्रों के संपादक और लेखक हैं, या पत्रों के स्वामी। ऐसे कितने ही अरबपति हैं, जिन्होंने अपनी संपत्ति की नींव पत्रों पर ही खड़ी की थी......।"

ईश्वरचंद्र सिद्ध करना चाहते थे कि धन, ख्याति और सम्मान प्राप्त करने का पत्र-संचालन से उत्तम और कोई साधन नहीं है, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसी जीवन में सत्य और न्याय की रक्षा करने के सच्चे अवसर मिलते हैं। परंतु मानकी पर इस वक्तृता का ज़रा भी असर न हुआ। स्थूल दृष्टि को दूर की चीज़ें साफ़ नहीं दिखाई देतीं। मानकी के सामने सफल संपादक का कोई उदाहरण न था।

(३)

१६ वर्ष गुज़र गए। ईश्वरचंद्र ने संपादकीय जगत् में खूब नाम पैदा किया, जातीय आंदोलनों में अग्रसर हुए, पुस्तकें लिखीं, एक दैनिक पत्र निकाला, अधिकारियों के भी सम्मान-पात्र हुए। बड़ा लड़का बी० ए० में जा पहुँचा, छोटे लड़के

नीचे के दरजों में थे। एक लड़की का विवाह भी एक धन-संपन्न कुल में किया। विदित यही होता था कि उनका जीवन बड़ा ही सुखमय है। मगर उनकी आर्थिक दशा अब भी संतोष-जनक न थी। खर्च आमदनी से बढ़ा हुआ था। घर की कई हज़ार की जायदाद हाथ से निकल गई, इस पर भी बैंक का कुछ-न-कुछ देना सिर पर सवार रहता था। बाज़ार में भी उनकी साख न थी। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आ जाती कि उन्हें बाज़ार का रास्ता छोड़ना पड़ता। अब वह अक्सर अपनी युवावस्था की अदूरदर्शिता पर अफ़सोस करते थे। जातीय सेवा का भाव अब भी उनके हृदय में तरंगें मारता था; लेकिन काम तो वह करते थे, और यश वकीलों और सेठों के हिस्सों में आ जाता था। उनकी गिनती अभी तक छुटभैयों में थी। यद्यपि सारा नगर जानता था कि यहाँ के सार्वजनिक जीवन के प्राण वही हैं, पर उनका यथार्थ सम्मान न होता था। इन्हीं कारणों से ईश्वरचंद्र को अब संपादन-कार्य से अरुचि होती थी। दिनों-दिन उनका उत्साह क्षीण होता जाता था, लेकिन इस जाल से निकलने का कोई उपाय न सूझता था। उनकी रचना में अब सजीवता न थी, न लेखनी में शक्ति। उनके पत्र और पत्रिका, दोनो ही से उदासीनता का भाव झलकता था। उन्होंने सारा भार सहायकों पर छोड़ दिया था, ख़ुद बहुत कम काम करते थे। हाँ, दोनो पत्रों की जड़ जम चुकी थी, इसलिये ग्राहक-संख्या कम न होने पाती थी। वे अपने नाम पर चलते थे।

लेकिन इस संघर्ष और संग्राम के काल में उदासीनता का निबाह कहाँ! 'गौरव' के कई प्रतियोगी खड़े हो गए, जिनके नवीन उत्साह ने 'गौरव' से बाज़ी मार ली। उसका बज़ार ठंडा होने लगा। नए प्रतियोगियों का जनता ने बड़े हर्ष से स्वागत किया। उनकी उन्नति होने लगी। यद्यपि उनके सिद्धांत भी वही, लेखक भी वही, विषय भी वही थे लेकिन आगंतुकों ने उन्हीं पुरानी बातों में नई जान डाल दी। उनका उत्साह देख ईश्वरचंद्र को भी जोश आया कि एक बार फिर अपनी रुकी हुई गाड़ी में ज़ोर लगाऊँ; लेकिन न अपने में सामर्थ्य थी, न कोई हाथ बटानेवाला नज़र आता था, इधर-उधर निराश नेत्रों से देखकर हतोत्साह हो जाते थे—हा! मैंने अपना सारा जीवन सार्वजनिक कार्यों में व्यतीत किया, खेत बोया, सींचा, दिन को दिन और रात को रात न समझा, धूप में जला, पानी में भीगा, और इतने परिश्रम के बाद जब फ़सल काटने के दिन आए, तो मुझमें हँसिया पकड़ने का भी बूता नहीं। दूसरे लोग, जिनका उस समय कहीं पता न था, नाज काट-काटकर खलिहान भरे लेते हैं, और मैं खड़ा मुँह ताकता हूँ। उन्हें पूरा विश्वास था कि अगर कोई उत्साहशील युवक मेरा शरीक हो जाता, तो 'गौरव' अब भी अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर सकता है। सभ्य-समाज में उनकी धाक जमी हुई थी परिस्थिति उनके अनुकूल थी। ज़रूरत केवल ताज़े ख़ून की थी। उन्हें अपने बड़े लड़के से ज़्यादा उपयुक्त इस काम के लिये और कोई न दिखाई देता था। उसकी

रुचि भी इस काम की ओर थी, पर मानकी के भय से वह इस विचार को ज़बान पर न ला सके थे। इसी चिंता में दो साल गुज़र गए, और यहाँ तक नौबत पहुँची कि या तो 'गौरव' का टाट उलट दिया जाय, या उसे फिर सँभाला जाय। ईश्वर-चंद्र ने इसके पुनरुद्धार के लिये अंतिम उद्योग करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके सिवा और कोई उपाय न था। यह पत्रिका उनके जीवन का सर्वस्व थी। उसे बंद करने की वह कल्पना भी न कर सकते थे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा न था, पर प्राण-रक्षा की स्वाभाविक इच्छा ने उन्हें अपना सब कुछ अपनी पत्रिका पर न्योछावर करने को उद्यत कर दिया। फिर दिन-के-दिन लिखने-पढ़ने में रत रहने लगे। एक क्षण के लिये भी सिर न उठाते। 'गौरव' के लेखों में फिर सजी-वता का उद्भव हुआ, विद्वज्जनों में फिर उसकी चर्चा होने लगी, सहयोगियों ने फिर उसके लेखों को उद्धृत करना शुरू किया, पत्रिकाओं में फिर उसकी प्रशंसा-सूचक आलोचनाएँ निकलने लगीं। पुराने उस्ताद की ललकार फिर अखाड़े में गूँजने लगी।

लेकिन पत्रिका के पुनः संस्कार के साथ उनका शरीर और भी जर्जर होने लगा। हृद्-रोग के लक्षण दिखाई देने लगे। रक्त की न्यूनता से मुख पर पीलापन छा गया। ऐसी दशा में वह सुबह से शाम तक अपने काम में तल्लीन रहते। देश में धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था। ईश्वरचंद्र की सदय

प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपत्ती बना दिया था। धन-वादियों का खंडन और प्रतिवाद करते हुए उनके ख़ून में गरमी आ जाती थी, शब्दों से चिनगारियाँ निकलने लगती थीं, यद्यपि ये चिनगारियाँ केंद्रस्थ गरमी का अंत किए देती थीं।

एक दिन रात के दस बज गए थे। सरदी ख़ूब पड़ रही थी। मानकी दबे-पैर उनके कमरे में आई। दीपक की ज्योति में उनके मुख का पीलापन और भी स्पष्ट हो गया था। वह हाथ में क़लम लिए किसी विचार में मग्न थे। मानकी के आने की उन्हें ज़रा भी आहट न मिली। मानकी एक क्षण तक उन्हें वेदना-युक्त नेत्रों से ताकती रही। तब बोली—"अब तो यह पोथा बंद करो। आधी रात होने को आई। खाना पानी हुआ जाता है।"

ईश्वरचंद्र ने चौंककर सिर उठाया, और बोले—"क्यों, क्या आधी रात हो गई? नहीं, अभी मुश्किल से दस बजे होंगे। मुझे अभी ज़रा भी भूख नहीं है।"

मानकी—"कुछ थोड़ा-सा खा लेना।"

ईश्वर०—"एक ग्रास भी नहीं। मुझे इसी समय अपना लेख समाप्त करना है।"

मानकी—"मैं देखती हूँ, तुम्हारी दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती है, दवा क्यों नहीं करते? जान खपाकर थोड़े ही काम किया जाता है।"

ईश्वर०—"अपनी जान को देखूँ या इस घोर संग्राम को

देखूँ, जिसने समस्त देश में हलचल मचा रक्खी है। हज़ारों-लाखों जानों की हिमायत में एक जान न भी रहे, तो क्या चिंता ?"

मानकी—"कोई सुयोग्य सहायक क्यों नहीं रख लेते ?"

ईश्वरचंद्र ने ठंडी साँस लेकर कहा—"बहुत खोजता हूँ, पर कोई नहीं मिलता। एक विचार कई दिनों से मेरे मन में उठ रहा है, अगर तुम धैर्य से सुनना चाहो, तो कहूँ।"

मानकी—"कहो, मानने लायक़ होगा, तो मानूँगी क्यों नहीं !"

ईश्वरचंद्र—"मैं चाहता हूँ कि कृष्णचंद्र को अपने काम में शरीक कर लूँ। अब तो वह एम० ए० भी हो गया। इस पेशे से उसे रुचि भी है। मालूम होता है, ईश्वर ने उसे इसी काम के लिये बनाया है।"

मानकी ने अवहेलना-भाव से कहा—"क्या अपने साथ उसे भी ले डूबने का इरादा है ? कोई घर की सेवा करने-वाला भी चाहिए कि सब देश की ही सेवा करेंगे।"

ईश्वर०—"कृष्णचंद्र यहाँ बुरा न रहेगा।"

मानकी—"क्षमा कीजिए। बाज़ आई। वह कोई दूसरा काम करेगा, जहाँ चार पैसे मिलें। यह घर-फूँक काम आप ही को मुबारक रहे।"

ईश्वर०—"वकालत में भेजोगी, पर देख लेना, पछताना पड़ेगा। कृष्णचंद्र उस पेशे के लिये सर्वथा अयोग्य है।"

मानकी—"वह चाहे मजूरी करे, पर इस काम में न डालूँगी।"

ईश्वर०—"तुमने मुझे देखकर समझ लिया कि इस काम में घाटा-ही-घाटा है। पर इसी देश में ऐसे भाग्यवान् लोग मौजूद हैं, जो पत्रों की बदौलत धन और कीर्ति से माला-माल हो रहे हैं।"

मानकी—"इस काम में तो अगर कंचन भी बरसे, तो मैं कृष्ण को न आने दूँ। सारा जीवन वैराग्य में कट गया। अब कुछ दिन भोग भी करना चाहती हूँ।"

यह जाति का सच्चा सेवक अंत को जातीय कष्टों के साथ रोग के कष्टों को न सह सका। इस वार्तालाप के बाद मुश्किल से ६ महीने गुज़रे थे कि ईश्वरचंद्र ने संसार से प्रस्थान किया। उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरोध में कटा था। अपने सिद्धांतों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थी, पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी ख़ून नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।

इस शोक-समाचार के फैलते ही सारे शहर में कुहराम मच गया। बाज़ार बंद हो गए, शोक के जलसे होने लगे, पत्रों ने प्रतिद्वंद्विता का भाव त्याग दिया, चारो ओर से एक ध्वनि

आती थी कि देश से एक स्वतंत्र, सत्यवादी और विचारशील संपादक तथा एक निर्भीक, त्यागी देशभक्त उठ गया, और उसका स्थान चिरकाल तक ख़ाली रहेगा। ईश्वरचंद्र इतने बहुजन-प्रिय हैं, इसका उनके घरवालों को ध्यान भी न था। उनका शव निकला, तो सारा शहर अर्थी के साथ था। उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्रवृत्तियाँ दी गईं, कहीं उनके चित्र बनवाए गए। पर सबसे अधिक महत्त्वशाली वह मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से उनकी स्मृति में प्रतिष्ठित हुई थी।

मानकी को अपने पतिदेव का लोक-सम्मान देखकर सुख-मय कुतूहल होता था। उसे अब खेद होता था कि मैंने उनके दिव्य गुणों को न पहचाना, उनके पवित्र भावों और उच्च विचारों की क़दर न की। सारा नगर उनके लिये शोक मना रहा है। उनकी लेखनी ने अवश्य इनके ऐसे उपकार किए हैं, जिन्हें ये भूल नहीं सकते; और मैं अंत तक उनके मार्ग का कंटक बनी रही, सदैव तृष्णा के वश उनका दिल दुखाती रही। उन्होंने मुझे सोने में मढ़ दिया होता, एक भव्य भवन बनवाया होता, या कोई जायदाद पैदा कर ली होती, तो मैं ख़ुश होती, अपना धन्य भाग्य समझती। लेकिन तब देश में कौन उनके लिये आँसू बहाता, कौन उनका यश गाता। यहीं एक-से-एक धनिक पुरुष पड़े हुए हैं। वे दुनिया से चले जाते हैं, और किसी को खबर भी नहीं होती। सुनती हूँ, पतिदेव

के नाम से छात्रों को वृत्तियाँ दी जायँगी। जो लड़के वृत्ति पाकर विद्यालाभ करेंगे, वे मरते दम तक उनकी आत्मा को आशीर्वाद देंगे। शोक! मैंने उनके आत्म-त्याग का मर्म न जाना। स्वार्थ ने मेरी आँखों पर पर्दा डाल दिया था।

मानकी के हृदय में ज्यों-ज्यों ये भावनाएँ जाग्रत् होती जाती थीं, उसकी पति के प्रति श्रद्धा बढ़ती जाती थी। वह गौरव-शीला स्त्री थी। इस कीर्ति-गान और जन-सम्मान से उसका मस्तक ऊँचा हो जाता था। इसके उपरांत अब उसकी आर्थिक दशा पहले की-सी चिंताजनक न थी। कृष्णचंद्र के असाधारण अध्यवसाय और बुद्धि-बल ने उनकी वकालत को चमका दी थी। वह जातीय कामों में अवश्य भाग लेते थे, पत्रों में यथाशक्ति लेख भी लिखते थे, इस काम से उन्हें विशेष प्रेम था। लेकिन मानकी उन्हें हमेशा इन कामों से दूर रखने की चेष्टा करती रहती थी। कृष्णचंद्र अपने ऊपर जब्र करते थे। मा का दिल दुखाना उन्हें मंजूर न था।

ईश्वरचंद्र की पहली बरसी थी। शाम को ब्रह्मभोज हुआ। आधी रात तक ग़रीबों को खाना दिया गया। प्रातःकाल मानकी अपनी सेजगाड़ी पर बैठकर गंगा नहाने गई। यह उसकी चिर-संचित अभिलाषा थी, जो अब पुत्र की मातृ-भक्ति ने पूरी कर दी थी। वह उधर से लौट रही थी कि उसके कानों में बैंड की आवाज़ आई, और एक क्षण बाद एक जुलूस सामने आता हुआ दिखाई दिया। पहले कोतल घोड़ों की माला थी, उसके

बाद अश्वारोही स्वयंसेवकों की सेना। उसके पीछे सैकड़ों सवारी-गाड़ियाँ थीं। सबके पीछे, एक सजे हुए रथ पर, किसी देवता की मूर्ति थी। कितने ही आदमी इस विमान को खींच रहे थे। मानकी सोचने लगी, यह किस देवता का विमान है? न तो रामलीला के ही दिन हैं, न रथयात्रा के। सहसा उसका दिल ज़ोर से उछल पड़ा। यह ईश्वरचंद्र की मूर्ति थी, जो श्रमजीवियों की ओर से बनवाई गई थी, और लोग उसे बड़े मैदान में स्थापित करने को लिए जाते थे। वही स्वरूप था, वही वस्त्र, वही मुखाकृति, मूर्तिकार ने विलक्षण कौशल दिखाया था! मानकी का हृदय बाँसों उछलने लगा। उत्कंठा हुई कि परदे से निकलकर इस जुलूस के सम्मुख पति के चरणों पर गिर पड़ूँ। पत्थर की मूर्ति मानव-शरीर से अधिक श्रद्धास्पद होती है। किंतु कौन मुँह लेकर मूर्ति के सामने जाऊँ? उसकी आत्मा ने कभी उसका इतना तिरस्कार न किया था। मेरी धन-लिप्सा उनके पैरों की बेड़ी न बनती, तो वह न-जाने किस सम्मान-पद पर पहुँचते! मेरे कारण उन्हें कितना क्षोभ हुआ!! घरवालों की सहानुभूति बाहरवालों के सम्मान से कहीं उत्साह-जनक होती है। मैं इन्हें क्या कुछ न बना सकती थी, पर कभी उभरने न दिया। स्वामीजी, मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ, मैंने तुम्हारे पवित्र भावों की हत्या की है, मैंने तुम्हारी आत्मा को दुखी किया है। मैंने बाज़ को पिंजड़े में बंद करके रक्खा था। शोक!

सारे दिन मानकी को यही पश्चात्ताप होता रहा। शाम को उससे न रहा गया। वह अपनी कहारिन को लेकर पैदल उस देवता के दर्शन को चली, जिसकी आत्मा को उसने दुःख पहुँचाया था।

संध्या का समय था। आकाश पर लालिमा छाई हुई थी। अस्ताचल की ओर कुछ बादल भी हो आए थे। सूर्यदेव कभी मेघ-पट में छिप जाते थे, कभी बाहर निकल आते थे। इस धूप-छाँह में ईश्वरचंद्र की मूर्ति दूर से कभी प्रभात की भाँति प्रसन्न-मुख और कभी संध्या की भाँति मलिन देख पड़ती थी। मानकी उसके निकट गई, पर उसके मुख की ओर न देख सकी। उन आँखों में करुण वेदना थी। मानकी को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह मेरी ओर तिरस्कार-पूर्ण भाव से देख रही है। उसकी आँखों से ग्लानि और लज्जा के आँसू बहने लगे। वह मूर्ति के चरणों पर गिर पड़ी, और मुँह ढाँपकर रोने लगी। मन के भाव द्रवित हो गए।

वह घर आई, तो नौ बज गए थे। कृष्णचंद्र उसे देखकर बोले—"अम्मा, आज आप इस वक़्त कहाँ गई थीं?"

मानकी ने हर्ष से कहा—"गई थी तुम्हारे बाबूजी की प्रतिमा के दर्शन करने। ऐसा मालूम होता है, वह साक्षात् खड़े हैं।"

कृष्ण०—"जयपुर से बनकर आई है।"

मानकी—"पहले तो लोग उनका इतना आदर न करते थे।"

कृष्ण०—"उनका सारा जीवन सत्य और न्याय की वकालत में गुज़रा है। ऐसे ही महात्माओं की पूजा होती है।"

मानकी—"लेकिन उन्होंने वकालत कब की ?"

कृष्ण०—"हाँ, यह वकालत नहीं की, जो मैं और मेरे हज़ारों भाई कर रहे हैं, जिससे न्याय और धर्म का ख़ून हो रहा है। उनकी वकालत उच्च कोटि की थी।"

मानकी—"अगर ऐसा है, तो तुम भी वही वकालत क्यों नहीं करते ?"

कृष्ण०—"बहुत कठिन है। दुनिया का जंजाल अपने सिर लीजिए, दूसरों के लिये रोइए, दीनों की रक्षा के लिये लट्ठ लिए फिरिए, अधिकारियों के मुँह आइए, इनका क्रोध और कोप सहिए, और इस कष्ट, अपमान और यंत्रणा का पुरस्कार क्या है ? अपनी अभिलाषाओं की हत्या।"

मानकी—"लेकिन यश तो होता है।"

कृष्ण०—"हाँ, यश होता है। लोग आशीर्वाद देते हैं।"

मानकी—"जब इतना यश मिलता है, तो तुम भी वही काम करो। हम लोग उस पवित्र आत्मा की और कुछ सेवा नहीं कर सकते, तो उसी वाटिका को सींचते जायँ, जो उन्होंने अपने जीवन में इतने उत्सर्ग और भक्ति से लगाई। इससे उनकी आत्मा को शांति मिलेगी।"

कृष्णचंद्र ने माता को श्रद्धामय नेत्रों से देखकर कहा—

"करूँ तो, मगर संभव है, तब यह टीम-टाम न निभ सके। शायद फिर वही पहले की-सी दशा हो जाय।"

मानकी—"कोई हरज नहीं। संसार में यश तो होगा। आज तो अगर धन की देवी भी मेरे सामने आवे, तो मैं आँखें न नीची करूँ।"

आभूषण

(१)

आभूषणों की निंदा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम असहयोग का उत्पीड़न सह सकते हैं; पर ललनाओं के निर्दय, घातक वाक्य-बाणों को नहीं सह सकते। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि इस तृष्णा की पूर्ति के लिये जितना त्याग किया जाता है, उसका सदुपयोग करने से महान् पद प्राप्त हो सकता है।

यद्यपि हमने किसी रूप-हीना महिला को आभूषणों की सजावट से रूपवती होते नहीं देखा, तथापि हम यह भी मान लेते हैं कि रूप के लिये आभूषणों की उतनी ही जरूरत है, जितनी घर के लिये दीपक की। किंतु शारीरिक शोभा के लिये हम मन को कितना मलिन, चित्त को कितना अशांत और आत्मा को कितना कलुषित बना लेते हैं, इसका हमें कदाचित् ज्ञान ही नहीं होता। इस दीपक की ज्योति में आँखें धुँधली हो जाती हैं। यह चमक-दमक कितनी ईर्ष्या, कितने द्वेष, कितनी प्रतिस्पर्द्धा, कितनी दुश्चिंता और कितनी दुराशा का कारण है; इसकी केवल कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्हें भूषण नहीं, दूषण कहना अधिक उपयुक्त है। नहीं तो यह कब हो सकता था कि कोई नव-वधू, पति के

घर आने के तीसरे ही दिन, अपने पति से कहती कि "मेरे पिता ने तुम्हारे पल्ले बाँधकर मुझे तो कुएँ में ढकेल दिया !"

शीतला आज अपने गाँव के ताल्लुक़ेदार कुँअर सुरेशसिंह की नव-विवाहिता वधू को देखने गई थी। उसके सामने ही वह मंत्र-मुग्ध-सी हो गई। बहू के रूप-लावण्य पर नहीं, उसके आभूषणों की जगमगाहट पर उसकी टकटकी लगी रही। और, वह जब से घर लौटकर आई, उसकी छाती पर साँप लोटता रहा। अंत को, ज्यों ही उसका पति घर आया, वह उस पर बरस पड़ी, और दिल में भरा हुआ ग़ुबार पूर्वोक्त शब्दों में निकल पड़ा। शीतला के पति का नाम विमलसिंह था। उसके पुरखे किसी ज़माने में इलाक़ेदार थे। इस गाँव पर भी उन्हीं का सोलहो आने अधिकार था। लेकिन अब इस घर की दशा हीन हो गई है। सुरेशसिंह के पिता ज़मींदारी के काम में दक्ष थे। विमलसिंह का सब इलाक़ा किसी-न-किसी प्रकार से उनके हाथ आ गया। विमल के पास सवारी का टट्टू भी न था। उसे दिन में दो बार भोजन भी मुश्किल से मिलता था। उधर सुरेश के पास हाथी, मोटर और कई घोड़े थे; दस-पाँच बाहर के आदमी नित्य द्वार पर पड़े रहते थे। पर, इतनी विषमता होने पर भी, दोनो में भाई-चारा निभाया जाता था, शादी-ब्याह में, मूड़न-छेदन में परस्पर आना-जाना होता रहता था। सुरेश विद्या-प्रेमी थे, हिंदुस्थान में ऊँची शिक्षा समाप्त करके वह योरप चले गए, और सब लोगों की शंकाओं के विपरीत

वहाँ से आर्य-सभ्यता के परम भक्त बनकर लौटे थे। वहाँ के जड़वाद, कृत्रिम भोगलिप्सा और अमानुषिक मदांधता ने उनकी आँखें खोल दी थीं। पहले वह घरवालों के बहुत जोर देने पर भी विवाह करने को राजी नहीं हुए। लड़की से पूर्व परिचय हुए विना प्रणय नहीं कर सकते थे। पर योरप से लौटने पर उनके वैवाहिक विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। उन्होंने उसी पहले की कन्या से, विना उसके आचार-विचार जाने हुए, विवाह कर लिया। अब वह विवाह को प्रेम का बंधन नहीं, धर्म का बंधन समझते थे। उसी सौभाग्यवती वधू को देखने के लिये आज शीतला, अपनी सास के साथ, सुरेश के घर गई थी। उसी के आभूषणों की छटा देखकर वह मर्माहत-सी हो गई है। विमल ने व्यथित होकर कहा—"तो माता-पिता से कहा होता, सुरेश से ब्याह कर देते। वह तुम्हें गहनों से लाद सकते थे।"

शीतला—"तो गाली क्यों देते हो?"

विमल—"गाली नहीं देता, बात कहता हूँ। तुम-जैसी सुंदरी को उन्होंने नाहक़ मेरे साथ ब्याहा।"

शीतला—"लजाते तो हो नहीं, उलटे और ताने देते हो!"

विमल—"भाग्य मेरे वश में नहीं है। इतना पढ़ा भी नहीं हूँ कि कोई बड़ी नौकरी करके रुपए कमाऊँ।"

शीतला—"यह क्यों नहीं कहते कि प्रेम ही नहीं है। प्रेम हो, तो कंचन बरसने लगे।"

विमल—"तुम्हें गहनों से बहुत प्रेम है?"

शीतला—"सभी को होता है। मुझे भी है।"

विमल—"अपने को अभागिनी समझती हो?"

शीतला—"हूँ ही, समझना कैसा? नहीं तो क्या दूसरे को देखकर तरसना पड़ता?"

विमल—"गहने बनवा दूँ, तो अपने को भाग्यवती समझने लगोगी?"

शीतला—"[चिढ़कर] तुम तो इस तरह पूछ रहे हो, जैसे सुनार दरवाज़े पर बैठा है।"

विमल—"नहीं, सच कहता हूँ, बनवा दूँगा। हाँ, कुछ दिन सबर करना पड़ेगा।"

(२)

समर्थ पुरुषों को बात लग जाती है, तो वे प्राण ले लेते हैं। सामर्थ्य-हीन पुरुष अपनी ही जान पर खेल जाता है। विमल-सिंह ने घर से निकल जाने की ठानी। निश्चय किया, या तो इसे गहनों से ही लाद दूँगा या वैधव्य-शोक से; या तो आभूषण ही पहनेगी या सेंदुर को भी तरसेगी।

दिन-भर वह चिंता में डूबा पड़ा रहा। शीतला को उसने प्रेम से संतुष्ट करना चाहा था। आज अनुभव हुआ कि नारी का हृदय प्रेम-पाश से नहीं बँधता, कंचन के पाश ही से बँध सकता है। पहर रात जाते-जाते वह घर से चल खड़ा हुआ। पीछे फिरकर भी न देखा। ज्ञान से जागे हुए विराग में चाहे

मोह का संस्कार हो, पर नैराश्य से जागा हुआ विराग अचल होता है। प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुएँ देखकर मन विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ-भर भी हट सके।

विमल के पास विद्या न थी, कला-कौशल भी न था; उसे केवल अपने कठिन परिश्रम और कठिन आत्मत्याग ही का आधार था। वह पहले कलकत्ते गया। वहाँ कुछ दिन तक एक सेठ की दरबानी करता रहा। वहाँ जो सुन पाया कि रंगून में मज़दूरी अच्छी मिलती है, तो रंगून जा पहुँचा, और बंदर पर माल चढ़ाने-उतारने का काम करने लगा।

कुछ तो कठिन श्रम, कुछ खाने-पीने के असंयम और कुछ जल-वायु की ख़राबी के कारण वह बीमार हो गया। शरीर दुर्बल हो गया, मुख की कांति जाती रही; फिर भी उससे ज्यादा मेहनती मज़दूर बंदर पर दूसरा न था। और मज़दूर मज़दूर थे, पर यह मज़दूर तपस्वी था। मन में जो कुछ ठान लिया था, उसे पूरा करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था।

उसने घर को अपना कोई समाचार न भेजा। अपने मन से तर्क किया, घर में कौन मेरा हितू है ? गहनों के सामने मुझे कौन पूछता है ? उसकी बुद्धि यह रहस्य समझने में असमर्थ थी कि आभूषणों की लालसा रहने पर भी प्रणय का पालन किया जा सकता है ! और मज़दूर प्रातःकाल सेरों

मिठाई खाकर जल-पान करते; दिन-भर—दम-दम-भर पर—गाँजे, चरस और तमाखू के दम लगाते; अवकाश पाते, तो बाजार की सैर करते। कितनों ही को शराब का भी शौक़ था। पैसों के बदले रुपए कमाते, तो पैसों की जगह रुपए खर्च भी कर डालते थे। किसी की देह पर साबित कपड़े तक न थे। पर विमल उन गिनती के दो-चार मजदूरों में से था, जो संयम से रहते थे, जिनके जीवन का उद्देश्य खा-पीकर मर जाने के सिवा कुछ और भी था। थोड़े ही दिनों में उसके पास थोड़ी-सी संपत्ति हो गई। धन के साथ और मजदूरों पर दबाव भी बढ़ने लगा। यह प्रायः सभी जानते थे कि विमल जाति का कुलीन ठाकुर है। सब ठाकुर ही कहकर उसे पुकारते। संयम और आचार सम्मान-सिद्धि के मंत्र हैं। विमल मजदूरों का नेता और महाजन हो गया।

विमल को रंगून में काम करते तीन वर्ष हो चुके थे। संध्या हो गई थी। वह कई मजदूरों के साथ समुद्र के किनारे बैठे बातें कर रहा था।

एक मजदूर ने कहा—"यहाँ की सभी स्त्रियाँ निठुर होती हैं। बेचारा झींगुर १० बरस से उस बर्मी स्त्री के साथ रहता था। कोई अपनी ब्याही जोरू से भी इतना प्रेम न करता होगा। उस पर इतना विश्वास करता था कि जो कुछ कमाता, उसके हाथ में रख देता। तीन लड़के थे। अभी कल तक दोनो साथ-साथ खाकर लेटे थे। न कोई लड़ाई, न झगड़ा; न बात, न

चीत ; रात को औरत न-जाने कब उठी, और न-जाने कहाँ चली गई। लड़कों को छोड़ गई। बेचारा झींगुर बैठा रो रहा है। सबसे बड़ी मुश्किल तो छोटे बच्चे की है। अभी कुल छ महीने का है। कैसे जिएगा, भगवान् ही जानें।"

विमलसिंह ने गंभीर भाव से कहा—"गहने बनवाता था कि नहीं ?"

मजदूर—"रुपए-पैसे तो औरत ही के हाथ में थे। गहने बनवाती, तो उसका हाथ कौन पकड़ता ?"

दूसरे मजदूर ने कहा—"गहनों से तो लदी हुई थी। जिधर से निकल जाती थी, छम-छम की आवाज से कान भर जाते थे।"

विमल—"जब गहने बनवाने पर भी निठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफ़ा होती है।"

इतने में एक आदमी आकर विमलसिंह से बोला—"चौधरी, अभी मुझे एक सिपाही मिला था, वह तुम्हारा नाम, गाँव और बाप का नाम पूछ रहा था। कोई बाबू सुरेशसिंह हैं ?"

विमल ने सशंक होकर कहा—"हाँ, हैं। मेरे गाँव के इलाक़ेदार और बिरादरी के भाई हैं।"

आदमी—"उन्होंने थाने में कोई नोटिस छपवाया है कि जो विमलसिंह का पता लगावेगा, उसे १,०००) का इनाम मिलेगा।"

विमल—"तो तुमने सिपाही को सब ठीक-ठीक बता दिया ?"

आदमी—"चौधरी, मैं कोई गँवार हूँ क्या? समझ गया, कुछ दाल में काला है; नहीं तो कोई इतने रुपए क्यों खर्च करता। मैंने कह दिया कि उनका नाम विमलसिंह नहीं, जसोदा पाँड़े है। बाप का नाम सुक्खू बताया, और घर जिला झाँसी में। पूछने लगा, यहाँ कितने दिन से रहता है? मैंने कहा, कोई दस साल से। तब कुछ सोचकर चला गया। सुरेश बाबू से तुमसे कोई अदावत है क्या, चौधरी?"

विमल—"अदावत तो नहीं थी, मगर कौन जाने, उनकी नीयत बिगड़ गई हो। मुझ पर कोई अपराध लगाकर मेरी जगह-ज़मीन पर हाथ बढ़ाना चाहते हों। तुमने बड़ा अच्छा किया कि सिपाही को उड़नघाई बताई।"

आदमी—"मुझसे कहता था कि ठीक-ठीक बता दो, तो ५०) तुम्हें भी दिला दूँ। मैंने सोचा, आप तो १,०००) की गठरी मारेगा, और मुझे ५०) दिलाने को कहता है। फटकार बता दी।"

एक मज़दूर—"मगर जो २००) देने को कहता, तो तुम सब ठीक-ठीक नाम-ठिकाना बता देते? क्यों? धत् तेरे लालची की!"

आदमी—"[लज्जित होकर] २००) नहीं, २,०००) भी देता, तो न बताता। मुझे ऐसा विश्वासघात करनेवाला मत समझो। जब जी चाहे, परख लो।"

मज़दूरों में यों वाद-विवाद होता ही रहा, विमल आकर

अपनी कोठरी में लेट गया। वह सोचने लगा, अब क्या करूँ? जब सुरेश-जैसे सज्जन की नीयत बदल गई, तो अब किसका भरोसा करूँ! नहीं, अब बिना घर गए काम नहीं चलेगा। कुछ दिन और न गया, तो फिर कहीं का न होऊँगा। दो साल और रह जाता, तो पास में पूरे ५,०००) हो जाते। शीतला की इच्छा कुछ पूरी हो जाती। अभी तो सब मिलाकर ३,०००) ही होंगे, इतने में उसकी अभिलाषा न पूरी होगी। खैर, अभी चलूँ। छ महीने में फिर लौट आऊँगा। अपनी जायदाद तो बच जायगी। नहीं, छ महीने रहने का क्या काम है? जाने-आने में एक महीना लग जायगा। घर में १५ दिन से ज्यादा न रहूँगा। वहाँ कौन पूछता है, आऊँ या रहूँ, मरूँ या जिऊँ; वहाँ तो गहनों से प्रेम है।

इस तरह मन में निश्चय करके वह दूसरे दिन रंगून से चल पड़ा।

(३)

संसार कहता है, गुण के सामने रूप की कोई हस्ती नहीं। हमारे नीति-शास्त्र के आचार्यों का भी यही कथन है। पर वास्तव में यह कितना भ्रम-मूलक है! कुँअर सुरेशसिंह की नव-वधू मंगलाकुमारी गृह-कार्य में निपुण, पति के इशारे पर प्राण देनेवाली, अत्यंत विचारशीला, मधुर-भाषिणी और धर्म-भीरु थी; पर सौंदर्य-विहीन होने के कारण पति की

आँखों में काँटे के समान खटकती थी। सुरेशसिंह बात-बात पर उस पर झुँझलाते, पर घड़ी-भर में पश्चात्ताप के वशीभूत होकर उससे क्षमा माँगते; किंतु दूसरे ही दिन फिर वही कुत्सित व्यापार शुरू हो जाता। विपत्ति यह थी कि उनके आचरण अन्य रईसों की भाँति भ्रष्ट न थे। वह दांपत्य जीवन ही में आनंद, सुख, शांति, विश्वास, प्रायः सभी ऐहिक और पारमार्थिक उद्देश्य पूरा करना चाहते थे, और दांपत्य सुख से वंचित होकर उन्हें अपना समस्त जीवन नीरस, स्वाद-हीन और कुंठित जान पड़ता था। फल यह हुआ कि मंगला को अपने ऊपर विश्वास न रहा। वह अपने मन से कोई काम करते हुए डरती कि स्वामी नाराज़ होंगे। स्वामी को खुश रखने के लिये अपनी भूलों को छिपाती, बहाने करती, झूठ बोलती। नौकरों को अपराध लगाकर आत्म-रक्षा करना चाहती। पति को प्रसन्न रखने के लिये उसने अपने गुणों की, अपनी आत्मा की अवहेला की; पर उठने के बदले वह पति की नज़रों से गिरती ही गई। वह नित्य नए शृंगार करती, पर लक्ष्य से दूर होती जाती। पति की एक मधुर मुस्कान के लिये, उनके अधरों के एक मीठे शब्द के लिये उसका प्यासा हृदय तड़प-तड़पकर रह जाता। लावण्य-विहीन स्त्री वह भिक्षुक नहीं है, जो चंगुल-भर आटे से संतुष्ट हो जाय। वह भी पति का संपूर्ण, अखंड प्रेम चाहती है, और कदाचित् सुंदरियों से अधिक; क्योंकि वह इसके लिये असा-

धारण प्रयत्न और अनुष्ठान करती है। मंगला इस प्रयत्न में निष्फल होकर और भी संतप्त होती थी।

धीरे-धीरे पति से उसकी श्रद्धा उठने लगी। उसने तर्क किया कि ऐसे क्रूर, हृदय-शून्य, कल्पना-हीन मनुष्य से मैं भी उसी का-सा व्यवहार करूँगी। जो पुरुष केवल रूप का भक्त है, वह प्रेम-भक्ति के योग्य नहीं। इस प्रत्याघात ने समस्या और भी जटिल कर दी।

मगर मंगला को केवल अपनी रूप-हीनता ही का रोना न था, शीतला का अनुपम रूप-लालित्य भी उसकी कामनाओं का बाधक था, बल्कि यही उसकी आशा-लताओं पर पड़नेवाला तुषार था। मंगला सुंदरी न सही, पर पति पर जान देती थी। जो अपने को चाहे, उससे हम विमुख नहीं हो सकते; प्रेम की शक्ति अपार है। पर शीतला की मूर्ति सुरेश के हृदय-द्वार पर बैठी हुई मंगला को अंदर न जाने देती थी, चाहे वह कितना ही वेष बदलकर आवे। सुरेश इस मूर्ति को हटाने की चेष्टा करते थे, उसे बलात् निकाल देना चाहते थे; किंतु सौंदर्य का आधिपत्य धन के आधिपत्य से कम दुर्निवार नहीं होता। जिस दिन शीतला इस घर में मंगला का मुँह देखने आई थी, उसी दिन सुरेश की आँखों ने उसकी मनोहर छवि की एक झलक देख ली थी। वह एक झलक मानो एक क्षणिक क्रिया थी, जिसने एक ही धावे में समस्त हृदय-राज्य को जीत लिया—उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

सुरेश एकांत में बैठे हुए शीतला के चित्र को मंगला से मिलाते, यह निश्चय करने के लिये कि उनमें अंतर क्या है? एक क्यों मन को खींचती है, दूसरी क्यों उसे हटाती है? पर उनके मन का यह खिंचाव केवल एक चित्रकार या कवि का रसास्वादन-मात्र था। वह पवित्र और वासनाओं से रहित था। वह मूर्ति केवल उनके मनोरंजन की सामग्री-मात्र थी। वह अपने मन को बहुत समझाते, संकल्प करते कि अब मंगला को प्रसन्न रक्खूँगा। यदि वह सुंदरी नहीं है, तो उसका क्या दोष? पर उनका यह सब प्रयास मंगला के सम्मुख जाते ही विफल हो जाता था। वह बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मंगला के मन के बदलते हुए भावों को देखते; पर एक वज्राघात-पीड़ित मनुष्य की भाँति घी के घड़े को लुढ़कते देखकर भी रोकने का कोई उपाय न कर सकते। परिणाम क्या होगा, यह सोचने का उन्हें साहस ही न होता। पर जब मंगला ने अंत को बात-बात में उनकी तीव्र आलोचना करना शुरू कर दिया, वह उनसे उच्छृंखलता का व्यवहार करने लगी, तब उसके प्रति उनका वह उतना सौहार्द भी विलुप्त हो गया। घर में आना-जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन संध्या के समय बड़ी गरमी थी। पंखा झलने से आग और भी दहकती थी। कोई सैर करने बग़ीचों में भी न जा सकता था। पसीने की भाँति शरीर से सारी स्फूर्ति बह गई थी। जो जहाँ था, वहीं मुर्दा-सा पड़ा था। आग से सेंके

हुए मृदंग की भाँति लोगों के स्वर कर्कश हो गए थे। साधारण बातचीत में भी लोग उत्तेजित हो जाते, जैसे साधारण संघर्ष से वन के वृक्ष जल उठते हैं। सुरेशसिंह कभी चार क़दम टहलते, फिर हाँफकर बैठ जाते। नौकरों पर झुँझला रहे थे कि जल्द-जल्द छिड़काव क्यों नहीं करते? सहसा उन्हें अंदर से गाने की आवाज़ सुनाई दी, चौंके, फिर क्रोध आया। मधुर गान कानों को अप्रिय जान पड़ा। यह क्या बेवक़्त की शहनाई है! यहाँ गरमी के मारे दम निकल रहा है, और इन सबको गाने की सूझी है! मंगला ने बुलाया होगा, और क्या! लोग नाहक़ कहते हैं, स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम है। उनके जीवन का आधार वही भोजन, निद्रा, राग रंग, आमोद-प्रमोद है, जो समस्त प्राणियां का है। घंटे-भर तो सुन चुका। यह गीत कभी बंद भी होगा या नहीं; सब व्यर्थ में गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रही हैं।

अंत को न रहा गया। ज़नानख़ाने में आकर बोले—"यह तुम लोगों ने क्या काँव-काँव मचा रक्खी है? यह गाने-बजाने का कौन-सा समय है? बाहर बैठना मुश्किल हो गया!"

सन्नाटा छा गया, जैसे शोर-ग़ुल मचानेवाले बालकों में मास्टर पहुँच जाय! सभी ने सिर झुका लिए, और सिमट गईं।

मंगला तुरंत उठकर सामनेवाले कमरे में चली गई। पति को बुलाया, और आहिस्ते से बोली—"क्यों इतना बिगड़ रहे हो?"

"मैं इस वक़्त गाना नहीं सुनना चाहता।"

"तुम्हें सुनाता ही कौन है? क्या मेरे कानों पर भी तुम्हारा अधिकार है?"

"फ़िज़ूल की बमचख़—"

"तुमसे मतलब?"

"मैं अपने घर में यह कोलाहल न मचने दूँगा!"

"तो मेरा घर कहीं और है?"

सुरेशसिंह इसका उत्तर न देकर बोले—"इन सबसे कह दो, फिर किसी वक़्त आवें।"

मंगला—"इसलिये कि तुम्हें इनका आना अच्छा नहीं लगता?"

सुरेश—"हाँ, इसीलिये!"

मंगला—"तुम क्या सदा वही करते हो, जो मुझे अच्छा लगे? तुम्हारे यहाँ मित्र आते हैं, हँसी-ठट्ठे की आवाज़ अंदर सुनाई देती है। मैं कभी नहीं कहती कि इन लोगों का आना बंद कर दो। तुम मेरे कामों में दस्तंदाज़ी क्यों करते हो?"

सुरेश ने तेज़ होकर कहा—"इसलिये कि मैं घर का स्वामी हूँ।"

मंगला—"तुम बाहर के स्वामी हो; यहाँ मेरा अधिकार है।"

सुरेश—"क्यों व्यर्थ की बक-बक करती हो? मुझे चिढ़ाने से क्या मिलेगा?"

मंगला ज़रा देर चुपचाप खड़ी रही। वह पति के मनोगत

भावों की मीमांसा कर रही थी। फिर बोली—"अच्छी बात है। अब इस घर में मेरा कोई अधिकार नहीं, तो न रहूँगी। अब तक भ्रम में थी। आज तुमने वह भ्रम मिटा दिया। मेरा इस घर पर अधिकार कभी नहीं था। जिस स्त्री का पति के हृदय पर अधिकार नहीं, उसका उसकी संपत्ति पर भी कोई अधिकार नहीं हो सकता।"

सुरेश ने लज्जित होकर कहा—"बात का बतंगड़ क्यों बनाती हो! मेरा यह मतलब न था। कुछ का कुछ समझ गईं!"

मंगला—"मन की बात आदमी के मुँह से अनायास ही निकल जाती है। फिर सावधान होकर हम अपने भावों को छिपा लेते हैं।"

सुरेश को अपनी असज्जनता पर दुःख तो हुआ, पर इस भय से कि मैं इसे जितना ही मनाऊँगा, उतना ही यह और जली-कटी सुनावेगी, उसे वहीं छोड़कर बाहर चले आए।

प्रातःकाल ठंडी हवा चल रही थी। सुरेश खुमारी में पड़े हुए स्वप्न देख रहे थे कि मंगला सामने से चली जा रही है। चौंक पड़े। देखा, द्वार पर सचमुच मंगला खड़ी है। घर की नौकरानियाँ आँचल से आँखें पोंछ रही हैं। कई नौकर आस-पास खड़े हैं। सभी की आँखें सजल और मुख उदास हैं। मानो बहू बिदा हो रही है।

सुरेश समझ गए कि मंगला को कल की बात लग गई। पर उन्होंने उठकर कुछ पूछने की, मनाने की या समझाने की

चेष्टा न की। यह मेरा अपमान कर रही है, सिर नीचा कर रही है। जहाँ चाहे, जाय। मुझसे कोई मतलब नहीं। यों बिना कुछ पूछे-पाछे चले जाने का अर्थ यह है कि मैं इसका कोई नहीं। फिर मैं इसे रोकनेवाला कौन!

वह यों ही जड़वत् पड़े रहे, और मंगला चली गई। उनकी तरफ़ मुँह उठाकर भी न ताका।

(४)

मंगला पाँव-पैदल चली जा रही थी। एक बड़े ताल्लुक़ेदार की औरत के लिये यह मामूली बात न थी। हर किसी की हिम्मत न पड़ती कि उससे कुछ कहे। पुरुष उसकी राह छोड़-कर किनारे खड़े हो जाते थे। नारियाँ द्वार पर खड़ी करुण कौतूहल से देखती थीं, और आँखों से कहती थीं—हा निर्दयी पुरुष! इतना भी न हो सका कि डोले पर तो बैठा देता।

इस गाँव से निकलकर मंगला उस गाँव में पहुँची, जहाँ शीतला रहती थी। शीतला सुनते ही द्वार पर आकर खड़ी हो गई, और मंगला से बोली—"बहन, ज़रा आकर दम ले लो।"

मंगला ने अंदर जाकर देखा, तो मकान जगह-जगह से गिरा हुआ था। दालान में एक वृद्धा खाट पर पड़ी थी। चारो ओर दरिद्रता के चिह्न दिखाई देते थे।

शीतला ने पूछा—"यह क्या हुआ?"

मंगला—"जो भाग्य में लिखा था।"

शीतला—"कुँअरजी ने कुछ कहा-सुना क्या ?"

मंगला—"मुँह से कुछ न कहने पर भी तो मन की बात छिपी नहीं रहती।"

शीतला—"अरे, तो क्या अब यहाँ तक नौबत आ गई !"

दुःख की अंतिम दशा संकोच-हीन होती है। मंगला ने कहा—"चाहती, तो अब भी पड़ी रहती ! उसी घर में जीवन कट जाता। पर जहाँ प्रेम नहीं, पूछ नहीं, मान नहीं, वहाँ अब नहीं रह सकती।"

शीतला—"तुम्हारा मायका कहाँ है ?"

मंगला—"मायके कौन मुँह लेकर जाऊँगी ?"

शीतला—"तब कहाँ जाओगी ?"

मंगला—"ईश्वर के दरबार में। पूछूँगी, तुमने मुझे सुंदरता क्यों नहीं दी ? बदसूरत क्यों बनाया ? बहन, स्त्री के लिये इससे अधिक दुर्भाग्य की बात नहीं कि वह रूप-हीन हो। शायद पुरबले जनम की पिशाचिनियाँ ही बदसूरत औरतें होती हैं। रूप से प्रेम मिलता है, और प्रेम से दुर्लभ कोई वस्तु नहीं।"

यह कहकर मंगला उठ खड़ी हुई। शीतला ने उसे रोका नहीं। सोचा, इसे खिलाऊँगी क्या, आज तो चूल्हा जलने की कोई आशा नहीं।

उसके जाने के बाद वह बहुत देर तक बैठी सोचती रही—मैं कैसी अभागिन हूँ। जिस प्रेम को न पाकर यह बेचारी

जीवन को त्याग रही है, उसी प्रेम को मैंने पाँव से ठुकरा दिया! इसे जेवर की क्या कमी थी? क्या ये सारे जड़ाऊ जेवर इसे सुखी रख सके? इसने उन्हें पाँव से ठुकरा दिया। उन्हीं आभूषणों के लिये मैंने अपना सर्वस्व खो दिया। हा! न-जाने वह (विमलसिंह) कहाँ हैं, किस दशा में हैं!

अपनी लालसा को, तृष्णा को, वह कितनी ही बार धिक्कार चुकी थी। शीतला की दशा देखकर आज उसे आभूषणों से घृणा हो गई।

विमल को घर छोड़े दो साल हो गए थे। शीतला को अब उनके बारे में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। आठो पहर उसके चित्त में ग्लानि और क्षोभ की आग सुलगती। दिहात के छोटे-मोटे जमींदारों का काम डाँट-डपट, छीन-झपट ही से चला करता है। विमल की खेती बेगार में होती थी। उसके जाने के बाद सारे खेत परती रह गए। कोई जोतनेवाला न मिला। इस ख़याल से साझे पर भी किसी ने न जोता कि बीच में कहीं विमलसिंह आ गए, तो साझेदार को अँगूठा दिखा देंगे। असामियों ने लगान न दिया। शीतला ने महाजन से रुपए उधार लेकर काम चलाया। दूसरे वर्ष भी यही कैफ़ियत रही। अब की महाजन ने भी रुपए न दिए। शीतला के गहनों के सिर गई। दूसरा साल समाप्त होते-होते घर की सब लेई-पूँजी निकल गई। फ़ाक़े होने लगे। बूढ़ी सास, छोटा देवर, ननँद और आप, चार प्राणियों का ख़र्च

था। नात-हित भी आते ही रहते थे। उस पर यह और मुसीबत हुई कि मायके में एक फौजदारी हो गई। पिता और बड़े भाई उसमें फँस गए। दो छोटे भाई, एक बहन और माता, चार प्राणी और सिर पर आ डटे। गाड़ी पहले ही मुश्किल से चलती थी, अब जमीन में धँस गई।

प्रातःकाल से कलह का आरंभ हो जाता। समधिन समधिन से, साले बहनोई से गुथ जाते। कभी तो अन्न के अभाव से भोजन ही न बनता; कभी, भोजन बनने पर भी, गाली-गलौज के कारण खाने की नौबत न आती। लड़के दूसरों के खेतों में जाकर गन्ने और मटर खाते; बूढ़ियाँ दूसरों के घर जाकर अपना दुखड़ा रोतीं, और ठकुर-सोहाती करतीं। पुरुष की अनुपस्थिति में स्त्री के मायकेवालों का प्राधान्य हो जाता है। इस संग्राम में प्रायः विजय-पताका मायकेवालों के ही हाथ रहता है। किसी भाँति घर में नाज आ जाता, तो उसे पीसे कौन! शीतला की मा कहती, चार दिन के लिये आई हूँ, तो क्या चक्की चलाऊँ? सास कहती, खाने की बेर तो बिल्ली की तरह लपकेंगी, पीसते क्यों जान निकलती है? विवश होकर शीतला को अकेले पीसना पड़ता। भोजन के समय वह महाभारत मचता कि पड़ोसवाले तंग आ जाते! शीतला कभी मा के पैरों पड़ती, कभी सास के चरण पकड़ती; लेकिन दोनो ही उसे झिड़क देतीं। मा कहती, तूने यहाँ बुलाकर हमारा पानी उतार लिया। सास कहती, मेरी छाती पर

सौत लाकर बैठा दी, अब बातें बनाती है ? इस घोर विवाद में शीतला अपना विरह-शोक भूल गई। सारी अमंगल-शंकाएँ इस विरोधाग्नि में शांत हो गईं। बस अब यही चिंता थी कि इस दशा से छुटकारा कैसे हो ? मा और सास, दोनो ही का यमराज के सिवा और कहीं ठिकाना न था; पर यमराज उनका स्वागत करने के लिये बहुत उत्सुक नहीं जान पड़ते थे। सैकड़ों उपाय सोचती, पर उस पथिक की भाँति, जो दिन-भर चलकर भी अपने द्वार ही पर खड़ा हो, उसकी सोचने की शक्ति निश्चल हो गई थी। चारो तरफ़ निगाहें दौड़ाती कि कहीं कोई शरण का स्थान है ? पर कहीं निगाह न जमती।

एक दिन वह इसी नैराश्य की अवस्था में द्वार पर खड़ी थी। मुसीबत में, चित्त की उद्विग्नता में, इंतज़ार में, द्वार से प्रेम-सा हो जाता है। सहसा उसने बाबू सुरेशसिंह को सामने से घोड़े पर जाते देखा। उनकी आँखें उसकी ओर फिरीं। आँखें मिल गईं। वह झिझककर पीछे हट गई। किवाड़े बंद कर लिए। कुँअर साहब आगे बढ़ गए। शीतला को खेद हुआ कि उन्होंने मुझे देख लिया। मेरे सिर पर सारी फटी हुई थी, चारों तरफ़ उसमें पेबंद लगे हुए थे ! वह अपने मन में न-जाने क्या कहते होंगे ?

कुँअर साहब को गाँववालों से विमलसिंह के परिवार के कष्टों की खबर मिली थी। वह गुप्त रूप से उसकी कुछ सहायता करना चाहते थे। पर शीतला को देखते ही संकोच ने उन्हें

ऐसा दबाया कि द्वार पर एक क्षण भी न रुक सके। मंगला के गृह-त्याग के तीन महीने पीछे आज वह पहली बार घर से निकले थे। मारे शर्म के बाहर बैठना छोड़ दिया था।

इसमें संदेह नहीं कि कुँअर साहब मन में शीतला के रूप-रस का आस्वादन करते थे। मंगला के जाने के बाद उनके हृदय में एक विचित्र दुष्कामना जग उठी। क्या किसी उपाय से यह सुंदरी मेरी नहीं हो सकती! विमल का मुद्दत से पता नहीं। बहुत संभव है, वह अब संसार में न हो। किंतु वह इस दुष्कल्पना को विचार से दबाते रहते थे। शीतला की विपत्ति की कथा सुनकर भी वह उसकी सहायता करते डरते थे। कौन जाने, वासना यही वेष रखकर मेरे विचार और विवेक पर कुठाराघात न करना चाहती हो। अंत को लालसा की कपट-लीला उन्हें भुलावा दे ही गई। वह शीतला के घर उसका हाल-चाल पूछने गए। मन में तर्क किया—यह कितना घोर अन्याय है कि एक अबला ऐसे संकट में हो, और मैं उसकी बात भी न पूछूँ? पर वहाँ से लौटे, तो बुद्धि और विवेक की रस्सियाँ टूट गई थीं, नौका मोह और वासना के अपार सागर में डुबकियाँ खा रही थी। आह! यह मनोहर छवि! यह अनुपम सौंदर्य!

एक क्षण में उन्मत्तों की भाँति बकने लगे—यह प्राण और यह शरीर तेरी भेंट करता हूँ। संसार हँसेगा, हँसे। महापाप है, हो। कोई चिंता नहीं। इस स्वर्गीय आनंद से मैं अपने को

वंचित नहीं रख सकता! वह मुझसे भाग नहीं सकती। इस हृदय को छाती से निकालकर उसके पैरों पर रख दूँगा। विमल? मर गया। नहीं मरा, तो अब मरेगा। पाप क्या है? कोई बात नहीं। कमल कितना कोमल, कितना प्रफुल्ल, कितना ललित है! क्या उसके अधरों—

अकस्मात् वह ठिठक गए, जैसे कोई भूली हुई बात याद आ जाय। मनुष्य में बुद्धि के अंतर्गत एक अज्ञात बुद्धि होती है। जैसे रण क्षेत्र में हिम्मत हारकर भागनेवाले सैनिकों को किसी गुप्त स्थान से आनेवाली कुमक सँभाल लेती है, वैसे ही इस अज्ञात बुद्धि ने सुरेश को सचेत कर दिया। वह सँभल गए। ग्लानि से उनकी आँखें भर आईं। वह कई मिनट तक, किसी दंडित क़ैदी की भाँति, स्तब्ध खड़े सोचते रहे। फिर विजय-ध्वनि से कह उठे—"कितना सरल है। इस विकार के हाथी को सिंह से नहीं, चींटी से मारूँगा। शीतला को एक बार 'बहन' कह देने से ही यह सब विकार शांत हो जायगा। शीतला! बहन! मैं तेरा भाई हूँ!"

उसी क्षण उन्होंने शीतला को पत्र लिखा—"बहन, तुमने इतने कष्ट झेले; पर मुझे खबर तक न दी! मैं कोई ग़ैर न था। मुझे इसका दुःख है। ख़ैर, अब ईश्वर ने चाहा, तो तुम्हें कष्ट न होगा।"

इस पत्र के साथ उन्होंने नाज और रुपए भेजे।

शीतला ने उत्तर दिया—'भैया, क्षमा करो। जब तक

जिऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी। तुमने मेरी डूबती नाव पार लगा दी।"

(५)

कई महीने बीत गए। संध्या का समय था। शीतला अपनी मैना को चारा चुगा रही थी। उसे सुरेश नैपाल से उसी के वास्ते लाए थे। इतने में सुरेश आकर आँगन में बैठ गए।

शीतला ने पूछा—"कहाँ से आते हो, भैया?"

सुरेश—"गया था जरा थाने। कुछ पता नहीं चला। रंगून में पहले कुछ पता मिला था। बाद को मालूम हुआ, वह कोई और आदमी है। क्या करूँ? इनाम और बढ़ा दूँ?"

शीतला—"तुम्हारे पास रुपए बढ़े हैं, फूँको। उनकी इच्छा होगी, तो आप ही आवेंगे।"

सुरेश—"एक बात पूछूँ, बताओगी? किस बात पर तुमसे रूठे थे?"

शीतला—"कुछ नहीं, मैंने यही कहा कि मुझे गहने बनवा दो। कहने लगे, मेरे पास है क्या। मैंने कहा (लजाकर), तो ब्याह क्यों किया? बस, बातों-ही-बातों में तकरार मान गए।"

इतने में शीतला की सास आ गईं। सुरेश ने शीतला की मा और भाइयों को उनके घर पहुँचा दिया था, इसलिये यहाँ अब शांति थी। सास ने बहू की बात सुन ली थी।

कर्कश स्वर से बोली—"बेटा, तुमसे क्या परदा है। यह महारानी देखने ही को गुलाब का फूल हैं, अंदर सब काँटे हैं। यह अपने बनाव-सिंगार के आगे विमल की बात ही न पूछती थी। बेचारा इस पर जान देता था; पर इसका मुँह ही न सीधा होता था। प्रेम तो इसे छू नहीं गया। अंत को उसे देश से निकालकर इसने दम लिया!"

शीतला ने रुष्ट होकर कहा—"क्या वही अनोखे धन कमाने घर से निकले हैं? देश-विदेश जाना मरदों का काम ही है।"

सुरेश—"योरप में तो धन-भोग के सिवा स्त्री-पुरुष में कोई संबंध ही नहीं होता। बहन ने योरप में जन्म लिया होता, तो हीरे-जवाहिर से जगमगाती होतीं। शीतला, अब तुम ईश्वर से यही कहना कि सुंदरता देते हो, तो योरप में जन्म दो।"

शीतला ने व्यथित होकर कहा—"जिनके भाग्य में लिखा है, वे यहीं सोने से लदी हुई हैं। मेरी भाँति सभी के करम थोड़े ही फूट गए हैं।"

सुरेशसिंह को ऐसा जान पड़ा कि शीतला की मुख-कांति मलिन हो गई है। पति-वियोग में भी गहनों के लिये इतनी लालायित है! बोले—"अच्छा, मैं तुम्हें गहने बनवा दूँगा।"

यह वाक्य कुछ अपमान-सूचक स्वर में कहा गया था; पर शीतला की आँखें आनंद से सजल हो आईं, कंठ गद्गद हो गया। उसके हृदय-नेत्रों के सामने मंगला के रत्न-जटित

आभूषणों का चित्र खिंच गया। उसने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से सुरेश को देखा। मुँह से कुछ न बोली; पर उसका प्रत्येक अंग कह रहा था—"मैं तुम्हारी हूँ।"

(६)

कोयल आम की डालियों पर बैठकर, मछली शीतल, निर्मल जल में क्रीड़ा करके, और मृग-शावक विस्तृत हरियालियों में छलाँगें भरकर इतने प्रसन्न नहीं होते, जितना मंगला के आभूषणों को पहनकर शीतला प्रसन्न हो रही है। उसके पर जमीन पर नहीं पड़ते। वह आकाश में विचरती हुई जान पड़ती है। वह दिन-भर आईने के सामने खड़ी रहती है; कभी केशों को सँवारती है, कभी सुरमा लगाती है। कुहरा फट गया, और निर्मल, स्वच्छ चाँदनी निकल आई है। वह घर का एक तिनका भी नहीं उठाती। उसके स्वभाव में एक विचित्र गर्व का संचार हो गया है।

लेकिन शृंगार क्या है? सोई हुई काम-वासना को जगाने का घोर नाद—उद्दीपन का मंत्र। शीतला जब नख-शिख से सजकर बैठती है, तो उसे प्रबल इच्छा होती है कि मुझे कोई देखे। वह द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। गाँव की स्त्रियों की प्रशंसा से उसे संतोष नहीं होता। गाँव के पुरुषों को वह शृंगार-रस-विहीन समझती है। इसलिये सुरेशसिंह को बुलाती है। पहले वह दिन में एक बार आ जाते थे; अब शीतला के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आते।

पहर रात गई थी। घरों के दीपक बुझ चुके थे। शीतला के घर में दीपक जल रहा था। उसने कुँअर साहब के बग़ीचे से बेले के फूल मँगवाए थे, और बैठी हार गूँथ रही थी—अपने लिये नहीं, सुरेश के लिये। प्रेम के सिवा एहसान का बदला देने के लिये उसके पास और था ही क्या?

एकाएक कुत्तों के भूँकने की आवाज़ सुनाई दी, और दम-भर में विमलसिंह ने मकान के अंदर क़दम रक्खा। उनके एक हाथ में संदूक़ थी, दूसरे हाथ में एक गठरी। शरीर दुर्बल, कपड़े मैले, दाढ़ी के बाल बढ़े हुए, मुख पीला; जैसे कोई क़ैदी जेल से निकलकर आया हो। दीपक का प्रकाश देखकर वह शीतला के कमरे की तरफ़ चले। मैना पिंजरे में तड़फड़ाने लगी। शीतला ने चौंककर सिर उठाया। घबराकर बोली—"कौन?" फिर पहचान गई। तुरंत फूलों को एक कपड़े से छिपा दिया। उठ खड़ी हुई, और सिर झुकाकर पूछा—"इतनी जल्दी सुध ली!"

विमल ने कुछ जवाब न दिया। विस्मित हो-होकर कभी शीतला को देखता और कभी घर को। मानो किसी नए संसार में पहुँच गया है। यह वह अधखिला फूल न था, जिसकी पँखड़ियाँ अनुकूल जल-वायु न पाकर सिमट गई थीं। यह पूर्ण विकसित कुसुम था—ओस के जल-कणों से जगमगाता और वायु के झोंकों से लहराता हुआ। विमल उसकी सुंदरता पर पहले भी मुग्ध था। पर यह ज्योति वह अग्नि-ज्वाला थी, जिससे

हृदय में ताप और आँखों में जलन होती थी। ये आभूषण, ये वस्त्र, यह सजावट! उसके सिर में चक्कर-सा आ गया। जमीन पर बैठ गया। इस सूर्यमुखी के सामने बैठते हुए उसे लज्जा आती थी। शीतला अभी तक स्तंभित खड़ी थी। वह पानी लाने नहीं दौड़ी, उसने पति के चरण नहीं धोए, उसके पंखा तक नहीं झला। वह हतबुद्धि-सी हो गई थी। उसने कल्पनाओं की कैसी सुरम्य वाटिका लगाई थी! उस पर तुषार पड़ गया! वास्तव में इस मलिन-वदन, अर्द्ध-नग्न पुरुष से उसे घृणा हो रही थी। यह घर का जमींदार विमल न था। वह मजदूर हो गया था। मोटा काम मुखाकृति पर असर डाले बिना नहीं रहता। मजदूर सुंदर वस्त्रों में भी मजदूर ही रहता है।

सहसा विमल की मा चौंकी। शीतला के कमरे में आई, तो विमल को देखते ही, मातृस्नेह से विह्वल होकर, उसे छाती से लगा लिया। विमल ने उसके चरणों पर सिर रक्खा। उसकी आँखों से आँसुओं की गरम-गरम बूँदें निकल रही थीं। मा पुलकित हो रही थी। मुख से बात न निकलती थी।

एक क्षण में विमल ने कहा—"अम्मा!"

कंठ ध्वनि ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

मा ने प्रश्न समझकर कहा—"नहीं बेटा, यह बात नहीं है।"

विमल—"यह देखता क्या हूँ?"

मा—"स्वभाव ही ऐसा है, तो कोई क्या करे?"

विमल—"सुरेश ने मेरा हुलिया क्यों लिखाया था?"

मा—"तुम्हारी खोज लेने के लिये। उन्होंने दया न की होती, तो आज घर में किसी को जीता न पाते।"

विमल—"बहुत अच्छा होता।"

शीतला ने ताने से कहा—"अपनी ओर से तो तुमने सबको मार ही डाला था। फूलों की सेज बिछा गए थे न ?"

विमल—"अब तो फूलों की सेज ही बिछी हुई देखता हूँ।"

शीतला—"तुम किसी के भाग्य के विधाता हो ?"

विमलसिंह उठकर क्रोध से काँपता हुआ बोला—"अम्मा, मुझे यहाँ से ले चलो। मैं इस पिशाचिनी का मुँह नहीं देखना चाहता। मेरी आँखों में खून उतरता चला आता है। मैंने इस कुल-कलंकिनी के लिये तीन साल तक जो कठिन तपस्या की है, उससे ईश्वर मिल जाता; पर इसे न पा सका !"

यह कहकर वह कमरे से निकल आया, और मा के कमरे में लेट रहा। मा ने तुरंत उसका मुँह और हाथ-पैर धुलाए। वह चूल्हा जलाकर पूरियाँ पकाने लगी। साथ-साथ घर की विपत्ति-कथा भी कहती जाती थी। विमल के हृदय में सुरेश के प्रति जो विरोधाग्नि प्रज्वलित हो रही थी, वह शांत हो गई; लेकिन हृदय-दाह ने रक्त-दाह का रूप धारण किया। ज़ोर का बुख़ार चढ़ आया। लंबी यात्रा की थकन और कष्ट तो था ही, बरसों के कठिन श्रम और तप के बाद यह मानसिक संताप और भी दुस्सह हो गया।

सारी रात वह अचेत पड़ा रहा। मा बैठी पंखा झलती

और रोती रही। दूसरे दिन भी वह बेहोश पड़ा रहा। शीतला उसके पास एक क्षण के लिये भी न आई। "इन्होंने मुझे कौन सोने के कौर खिला दिए हैं, जो इनकी धौंस सहूँ। यहाँ तो 'जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे विदेस।' किसी की फूटी कौड़ी नहीं जानती। बहुत ताव दिखाकर तो गए थे। क्या लाद लाए?"

संध्या-समय सुरेश को ख़बर मिली। तुरंत दौड़े हुए आए। आज दो महीने बाद उन्होंने इस घर में क़दम रक्खा। विमल ने आँखें खोलीं, पहचान गया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुरेश के मुखारविंद पर दया की ज्योति झलक रही थी। विमल ने उनके बारे में जो अनुचित संदेह किया था, उसके लिये वह अपने को धिक्कार रहा था।

शीतला ने ज्यों ही सुना कि सुरेशसिंह आए हैं, तुरंत शीशे के सामने गई, केश छिटका लिए, और विषाद की मूर्ति बनी विमल के कमरे में आई। कहाँ तो विमल की आँखें बंद थीं, मूर्च्छित-सा पड़ा था, कहाँ शीतला के आते ही आँखें खुल गईं। अग्निमय नेत्रों से उसकी ओर देखकर बोला—"अभी आई है? आज के तीसरे दिन आना। कुँअर साहब से उस दिन फिर भेंट हो जायगी।"

शीतला उलटे पाँव चली गई। सुरेश पर घड़ों पानी पड़ गया। मन में सोचा, कितना रूप-लावण्य है, पर कितना विषाक्त! हृदय की जगह केवल शृंगार-लालसा!

रोग बढ़ता ही गया। सुरेश ने डॉक्टर बुलवाए। पर मृत्युदेव ने किसी की न मानी। उनका हृदय पाषाण है। किसी भाँति नहीं पसीजता। कोई अपना हृदय निकालकर रख दे, आँसुओं की नदी बहा दे; पर उन्हें दया नहीं आती। बसे हुए घर को उजाड़ना, लहराती हुई खेती को सुखाना, उनका काम है। और, उनकी निर्दयता कितनी विनोदमय है! वह नित्य नए रूप बदलते रहते हैं। कभी दामिनी बन जाते हैं, तो कभी पुष्प-माला। कभी सिंह बन जाते हैं, तो कभी सियार। कभी अग्नि के रूप में दिखाई देते हैं, तो कभी जल के रूप में।

तीसरे दिन, पिछली रात को, विमल की मानसिक पीड़ा और हृदय-ताप का अंत हो गया। चोर दिन को कभी चोरी नहीं करता। यम के दूत प्रायः रात को ही, सबकी नजरें बचाकर, आते हैं, और प्राण-रत्न को चुरा ले जाते हैं। आकाश के फूल मुरझाए हुए थे। वृक्ष-समूह स्थिर थे, पर शोक में मग्न, सिर झुकाए हुए। रात शोक का बाह्य रूप है। रात मृत्यु का क्रीड़ा-क्षेत्र है। उसी समय विमल के घर से आर्तनाद सुनाई दिया—वह नाद, जिसे सुनने के लिये मृत्युदेव विकल रहते हैं।

शीतला चौंक पड़ी, और घबराई हुई मरण-शय्या की ओर चली। उसने मृत देह पर निगाह डाली, और भयभीत होकर एक पग पीछे हट गई। उसे जान पड़ा, विमलसिंह उसकी

ओर अत्यंत तीव्र दृष्टि से देख रहे हैं। बुझे हुए दीपक में उसे भयंकर ज्योति दिखाई पड़ी। वह मारे भय के वहाँ ठहर न सकी। द्वार से निकल ही रही थी कि सुरेशसिंह से भेंट हो गई। कातर स्वर में बोली—"मुझे यहाँ डर लगता है।" उसने चाहा कि रोती हुई इनके पैरों पर गिर पड़ूँ; पर वह अलग हट गए।

(७)

जब किसी पथिक को चलते-चलते ज्ञात होता है कि मैं रास्ता भूल गया हूँ, तो वह सीधे रास्ते पर आने के लिये बड़े वेग से चलता है। झुँझलाता है कि मैं इतना असावधान क्यों हो गया? सुरेश भी अब शांति-मार्ग पर आने के लिये विकल हो गए। मंगला की स्नेहमयी सेवाएँ याद आने लगीं। हृदय में वास्तविक सौंदर्योपासना का भाव उदय हुआ। उसमें कितना प्रेम, कितना त्याग था, कितनी क्षमा थी! उसकी अतुल पति-भक्ति को याद करके कभी-कभी वह तड़प जाते। आह! मैंने घोर अत्याचार किया। ऐसे उज्ज्वल रत्न का आदर न किया। मैं यहीं जड़वत् पड़ा रहा, और मेरे सामने ही लक्ष्मी घर से निकल गई! मंगला ने चलते-चलते शीतला से जो बातें कही थीं, वे उन्हें मालूम थीं। पर उन बातों पर विश्वास न होता था। मंगला शांत प्रकृति की थी; वह इतनी उद्दंडता नहीं कर सकती। उसमें क्षमा थी, वह इतना विद्वेष नहीं कर सकती। उनका मन कहता था कि

जाती है, और कुशल से है। उसके साथकेवालों को कई पत्र लिखे। पर वहाँ व्यंग्य और कटु वाक्यों के सिवा और क्या रक्खा था ? अंत को उन्होंने लिखा—"अब उस रत्न की खोज में मैं स्वयं जाता हूँ। या तो लेकर ही आऊँगा, या कहीं मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँगा।"

इस पत्र का उत्तर आया—"अच्छी बात है, जाइए, पर यहाँ से होते हुए जाइएगा। यहाँ से भी कोई आपके साथ चला जायगा।"

सुरेशसिंह को इन शब्दों में आशा की झलक दिखाई दी। उसी दिन प्रस्थान कर दिया। किसी को साथ नहीं लिया।

ससुराल में किसी ने उनका प्रेममय स्वागत नहीं किया। सभी के मुँह फूले हुए थे। ससुरजी ने तो उन्हें पति-धर्म पर एक लंबा उपदेश दिया।

रात को जब वह भोजन करके लेटे, तो छोटी साली आकर बैठ गई, और मुस्किराकर बोली—"जीजाजी, कोई सुंदरी अपने रूप-हीन पुरुष को छोड़ दे, उसका अपमान करे, तो आप उसे क्या कहेंगे ?"

सुरेश—[गंभीर स्वर से] "कुलटा !"

साली—"और ऐसे पुरुष को, जो अपनी रूप-हीन स्त्री को त्याग दे ?"

सुरेश—"पशु !"

साली—"और जो पुरुष विद्वान् हो ?"

सुरेश—"पिशाच !"

साली—[हँसकर] "तो मैं भागती हूँ। मुझे आपसे डर लगता है।"

सुरेश—"पिशाचों का प्रायश्चित्त भी तो स्वीकार हो जाता है।"

साली—"शर्त यह कि प्रायश्चित्त सच्चा हो।"

सुरेश—"यह तो वह अंतर्यामी ही जान सकते हैं।"

साली—"सच्चा होगा, तो उसका फल भी अवश्य मिलेगा। मगर दीदी को लेकर इधर ही से लौटिएगा।"

सुरेश की आशा-नौका फिर डगमगाई। गिड़गिड़ाकर बोले—"प्रभो, ईश्वर के लिये मुझ पर दया करो, मैं बहुत दुखी हूँ। साल-भर से ऐसा कोई दिन नहीं गया कि मैं रोकर न सोया हूँ।"

प्रभा ने उठकर कहा—"अपने किए का क्या इलाज ? जाती हूँ, आराम कीजिए।"

एक क्षण में शीतला की माता आकर बैठ गई, और बोली—"बेटा, तुमने तो बहुत पढ़ा-लिखा है, देस-बिदेस घूम आए हो, सुंदर बनने की कोई दवा कहीं नहीं देखी ?"

सुरेश ने विनय-पूर्वक कहा—"माताजी, अब ईश्वर के लिये और लज्जित न कीजिए।"

माता—"तुमने तो मेरी बेटी के प्राण ले लिए ! मैं क्या तुम्हें लज्जित करने से भी गई ! जी में तो था कि ऐसी-ऐसी

सुनाऊँगी कि तुम भी याद करोगे; पर मेरे मेहमान हो, क्या जलाऊँ ? आराम करो।"

सुरेश आशा और भय की दशा में पड़े करवटें बदल रहे थे कि एकाएक द्वार पर किसी ने धीरे से कहा—"जाती क्यों नहीं, जागते तो हैं।" किसी ने जवाब दिया—"लाज आती है।"

सुरेश ने आवाज़ पहचानी। प्यासे को पानी मिल गया। एक क्षण में मंगला उनके सम्मुख आई, और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। सुरेश को उसके मुख पर एक अनूठी छवि दिखाई दी, जैसे कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुका हो।

रूप वही था, पर आँखें और थीं।

राज्य-भक्त

(१)

संध्या का समय था। लखनऊ के बादशाह नासिरुद्दीन अपने मुसाहबों और दरबारियों के साथ बाग़ की सैर कर रहे थे। उनके सिर पर रत्न-जटित मुकुट की जगह अँगरेज़ी टोपी थी। वस्त्र भी अँगरेज़ी ही थे। मुसाहबों में पाँच अँगरेज़ थे। उनमें से एक के कंधे पर सिर रखकर बादशाह चल रहे थे। चार-पाँच हिंदुस्थानी भी थे! उनमें एक राजा बख्तावरसिंह थे। वह बादशाही सेना के अध्यक्ष थे। उन्हें सब लोग 'जेनरल' कहा करते थे। वह अधेड़ आदमी थे। शरीर खूब गठा हुआ था। लखनवी पहनाव उन पर बहुत सजता था। मुख से विचारशीलता झलक रही थी। दूसरे महाशय का नाम रोशनुद्दौला था। यह राज्य के प्रधान मंत्री थे। बड़ी-बड़ी मूँछें और नाटा डील था, जिसे ऊँचा करने के लिये वह तनकर चलते थे। नेत्रों से गर्व टपक रहा था। शेष लोगों में एक कोतवाल था, और दो बादशाह के रक्षक। यद्यपि अभी १९वीं शताब्दी का प्रारंभ ही था, पर बादशाह ने अँगरेज़ी रहन-सहन अख्तियार कर लिया था। भोजन भी प्रायः अँगरेज़ी ही करते थे। अँगरेज़ों पर उनका असीम विश्वास था। वह सदैव उनका पक्ष लिया करते। मजाल

न थी कि कोई बड़े-से-बड़ा राजा या राजकर्मचारी किसी अँगरेज़ से बराबरी करने का साहस कर सके।

अगर किसी में यह हिम्मत थी, तो वह राजा बख्तावरसिंह थे। उनसे कंपनी का बढ़ता हुआ अधिकार न देखा जाता था; कंपनी की वह सेना, जिसे उसने अवध-राज्य की रक्षा के लिये लखनऊ में नियुक्त किया था, दिन-दिन बढ़ती जाती थी। उसी परिणाम में सेना का व्यय भी बढ़ रहा था। राज-दरबार उसे चुका न सकने के कारण कंपनी का ऋणी होता जाता था। बादशाही सेना की दशा हीन-से-हीनतर होती जाती थी। उसमें न संगठन था, न बल। बरसों तक सिपाहियों का वेतन न मिलता, शस्त्र सभी पुराने ढंग के, वरदी फटी हुई, क़वायद का नाम नहीं। कोई उनका पूछनेवाला न था। अगर राजा बख्तावरसिंह वेतन-वृद्धि या नए शस्त्रों के संबंध में कोई प्रयत्न करते, तो कंपनी का रेज़िडेंट उसका घोर विरोध और राज्य पर विद्रोहात्मक शक्ति-संचार का दोषारोप करता। उधर से डाँट पड़ती, तो बादशाह अपना ग़ुस्सा राजा साहब पर उतारते। बादशाह के सभी अँगरेज़ मुसाहब राजा साहब से शंकित रहते और उनकी जड़ खोदने का प्रयास करते थे। पर वह राज्य का सेवक एक ओर से अवहेलना और दूसरी ओर से घोर विरोध सहते हुए अपने कर्तव्य का पालन करता जाता था। मज़ा यह कि सेना भी उनसे संतुष्ट न थी। सेना में अधिकांश लखनऊ के शोहदे और गुंडे भरे हुए थे। राजा

साहब जब उन्हें हटाकर अच्छे-अच्छे जवान भरती करने की चेष्टा करते, तो सारी सेना में हाहाकार मच जाता। लोगों को शंका होती कि यह राजपूतों की सेना बनाकर कहीं राज्य ही पर तो हाथ नहीं बढ़ाना चाहते ? इसलिये मुसलमान भी उनसे बदगुमान रहते थे। राजा साहब के मन में बार-बार प्रेरणा होती कि इस पद को त्यागकर चले जायँ, पर यह भय उन्हें रोकता था कि मेरे हटते ही अँगरेजों की बन आवेगी, और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन जायँगे ; रही-सही सेना के साथ अवध-राज्य का अस्तित्व भी मिट जायगा। अतएव, इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी, चारो ओर वैर-विरोध से घिरे होने पर भी, वह अपने पद से हटने का निश्चय न कर सकते थे। सबसे कठिन समस्या यह था कि रोशनुद्दौला भी राजा साहब से ख़ार खाता था। उसे सदैव शंका रहती थी कि यह मराठों से मैत्री करके अवध-राज्य को मिटाना चाहते हैं। इसलिये वह भी राजा साहब के प्रत्येक कार्य में बाधा डालता रहता। उसे अब भी आशा थी कि अवध का मुसलमानी राज्य अगर जीवित रह सकता है, तो अँगरेजों के संरक्षण में, अन्यथा वह अवश्य हिंदुओं की बढ़ती हुई शक्ति का ग्रास बन जायगा।

वास्तव में बख्तावरसिंह की दशा अत्यंत करुण थी। वह अपनी चतुराई से जिह्वा की भाँति दाँतों के बीच में पड़े हुए अपना काम किए जाते थे। यों तो वह स्वभाव से अक्खड़

थे, पर अपना काम निकालने के लिये मधुरता और मृदुलता, शील और विनय का आवाहन भी करते रहते थे। इससे उनके व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती, और वह शत्रुओं को उनकी ओर से और भी सशंक बना देती थी।

बादशाह ने एक अँगरेज़ मुसाहब से पूछा—"तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी कितनी ख़ातिर करता हूँ? मेरी सल्तनत में किसी की मजाल नहीं कि वह किसी अँगरेज़ को कड़ी निगाहों से देख सके।"

अँगरेज़ मुसाहब ने सिर झुकाकर जवाब दिया—"हम हुज़ूर की इस मिहरबानी को कभी नहीं भूल सकते।"

बादशाह—"इमामहुसेन की क़सम, अगर यहाँ कोई आदमी तुम्हें तकलीफ़ दे, तो मैं उसे फ़ौरन् जिंदा दीवार में चुनवा दूँ।"

बादशाह की आदत थी कि वह बहुधा अपनी अँगरेज़ी टोपी हाथ में लेकर उसे उँगली पर नचाने लगते थे। रोज़ नचाते-नचाते टोपी में उँगली का घर हो गया था। इस समय जो उन्होंने टोपी उठाकर उँगली पर रक्खी, तो टोपी में छेद हो गया। बादशाह का ध्यान अँगरेज़ों की तरफ़ था। बख़्तावरसिंह बादशाह के मुँह से ऐसी बातें सुनकर कबाब हुए जाते थे। उक्त कथन में कितनी ख़ुशामद, कितनी नीचता और अवध की प्रजा तथा राजों का कितना अपमान था; और लोग तो टोपी का छिद्र देखकर हँसने लगे, पर राजा

बख्तावरसिंह के मुँह से अनायास निकल गया—"हुज़ूर, ताज में सूराख़ हो गया!"

राजा साहब के शत्रुओं ने तुरंत कानों पर उँगलियाँ रख लीं। बादशाह को भी ऐसा मालूम हुआ कि राजा ने मुझ पर व्यंग्य किया। उनके तेवर बदल गए। अँगरेज़ों और अन्य सभासदों ने इस प्रकार कानाफूसी शुरू की, जैसे कोई महान् अनर्थ हो गया हो। राजा साहब के मुँह से अनर्गल शब्द अवश्य निकले थे। इसमें कोई संदेह नहीं था। संभव है, उन्होंने जान-बूझकर व्यंग्य न किया हो, उनके दुखी हृदय ने साधारण चेतावनी को यह तीव्र रूप दे दिया हो; पर बात बिगड़ ज़रूर गई थी। अब उनके शत्रु उन्हें कुचलने के ऐसे सुंदर अवसर को हाथ से क्यों जाने देते?

राजा साहब ने सभा का यह रंग देखा, तो ख़ून सर्द हो गया। समझ गए, आज शत्रुओं के पंजे में फँस गया, और ऐसा बुरा फँसा कि भगवान् ही निकालें, तो निकल सकता हूँ।

बादशाह ने कोतवाल से लाल आँखें करके कहा—"इस नमकहराम को क़ैद कर लो, और इसी वक़्त इसका सिर उड़ा दो। इसे मालूम हो जाय कि बादशाहों से बेअदबी करने का क्या नतीजा होता है।"

कोतवाल को सहसा 'जेनरल' पर हाथ बढ़ाने की हिम्मत न पड़ी। रोशनुद्दौला ने उससे इशारे से कहा—"खड़े सोचते

क्या हो, पकड़ लो, नहीं तो तुम भी इसी आग में जल जाओगे।"

झट कोतवाल ने आगे बढ़कर बख्तावरसिंह को गिरफ़्तार कर लिया। एक क्षण में मुस्कें कस दी गईं। लोग उन्हें चारो ओर से घेरकर क़त्ल करने ले चले।

बादशाह ने मुसाहबों से कहा—"मैं भी वहीं चलता हूँ। ज़रा देखूँगा, नमकहरामों की लाश क्योंकर तड़पती है।"

कितनी घोर पशुता थी! यही प्राणी ज़रा देर पहले बादशाह का विश्वास-पात्र था!

एकाएक बादशाह ने कहा—"पहले इस नमकहराम की खिलअत उतार लो। मैं नहीं चाहता कि मेरी खिलअत की बेइज्ज़ती हो।"

किसकी मजाल थी, जो ज़रा भी जबान हिला सकता। सिपाहियों ने राजा साहब के वस्त्र उतारने शुरू किए। दुर्भाग्य-वश उनकी एक जेब से पिस्तौल निकल आई। उसकी दोनो नालियाँ भरी हुई थीं। पिस्तौल देखते ही बादशाह की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। बोले—"क़सम है हज़रत इमामहुसेन की, अब इसकी जाँबख्शी नहीं करूँगा। मेरे साथ भरी हुई पिस्तौल की क्या ज़रूरत! ज़रूर इसकी नीयत में फ़ितूर रहता था। अब मैं इसे कुत्तों से नुचवाऊँगा। (मुसाहबों की तरफ़ देखकर) देखी तुम लोगों ने इसकी नीयत! मैं अपनी आस्तीन में साँप पाले हुए था। आप लोगों के

ख़याल में इसके पास भरी हुई पिस्तौल का निकलना क्या माने रखता है ?"

अँगरेज़ों को केवल राजा साहब को नीचा दिखाना मंजूर था। वे उन्हें अपना मित्र बनाकर जितना काम निकाल सकते थे, उतना उनके मारे जाने से नहीं। इसी से एक अँगरेज़ मुसाहब ने कहा—"मुझे तो इसमें कोई ग़ैरमुनासिब बात नहीं मालूम होती। जेनरल आपका बॉडी-गार्ड (रक्षक) है। उसे हमेशा हथियार-बंद रहना चाहिए, ख़ासकर जब आपकी खिदमत में हो। न मालूम, किस वक़्त ज़रूरत आ पड़े।"

दूसरे अँगरेज़ मुसाहबों ने भी इस विचार की पुष्टि की। बादशाह के क्रोध की ज्वाला कुछ शांत हुई। अगर ये ही बातें किसी हिंदुस्थानी मुसाहब की ज़बान से निकली होतीं, तो उसकी जान की ख़ैरियत न थी। कदाचित् अँगरेज़ों को अपनी न्यायपरता का नमूना दिखाने ही के लिये उन्होंने यह प्रश्न किया था। बोले—"क़सम हज़रत इमाम की, तुम सब-के-सब शेर के मुँह से उसका शिकार छीनना चाहते हो! पर मैं एक न मानूँगा, बुलाओ कप्तान साहब को। मैं उनसे यही सवाल करता हूँ। अगर उन्होंने भी तुम लोगों के ख़याल की ताईद की, तो इसकी जान न लूँगा। और, अगर उनकी राय इसके ख़िलाफ़ हुई, तो इस मक्कार को इसी वक़्त जहन्नुम भेज दूँगा। मगर ख़बरदार, कोई उसकी तरफ़ किसी

तरह का इशारा न करे ; वर्ना मैं जरा भी रू-रियायत न करूँगा। सब-के-सब सिर झुकाए बैठे रहें।"

कप्तान साहब थे तो राजा साहब के आउरदे, पर इन दिनों बादशाह की उन पर विशेष कृपा थी। वह उन सच्चे राज्य-भक्तों में से थे, जो अपने को राजा का नहीं, राज्य का सेवक समझते हैं। वह दरबार से अलग रहते थे। बादशाह उनके कामों से बहुत संतुष्ट थे। एक आदमी तुरंत कप्तान साहब को बुला लाया। राजा साहब की जान उनकी मुट्ठी में थी। रोशनुद्दौला को छोड़कर शायद एक व्यक्ति भी ऐसा न था, जिसका हृदय आशा और निराशा से न धड़क रहा हो। सब मन में भगवान् से यही प्रार्थना कर रहे थे कि कप्तान साहब किसी तरह इस समस्या को समझ जायँ। कप्तान साहब आए। उड़ती हुई दृष्टि से सभा की ओर देखा। सभी की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। वह कुछ अनिश्चित भाव से सिर झुकाकर खड़े हो गए।

बादशाह ने पूछा—"मेरे मुसाहबों को अपनी जेब में भरी हुई पिस्तौल रखना मुनासिब है, या नहीं ?"

दरबारियों की नीरवता, उनके आशंकित चेहरे और उनकी चिंतायुक्त अधीरता देखकर कप्तान साहब को वर्तमान समस्या की कुछ टोह मिल गई। वह निर्भीक भाव से बोले—"हुजूर, मेरे खयाल में तो यह उनका फर्ज है। बादशाह के दोस्त-दुश्मन सभी होते हैं ; अगर मुसाहब लोग उनकी रक्षा

का भार न लेंगे, तो कौन लेगा ? उन्हें सिर्फ़ पिस्तौल ही नहीं, और भी छिपे हुए हथियारों से लैस रहना चाहिए। न-जाने कब हथियारों की जरूरत आ पड़े, तब वे ऐन वक्त पर कहाँ दौड़ते फिरेंगे।"

राजा साहब के जीवन के दिन बाक़ी थे। बादशाह ने निराश होकर कहा—"रोशन, इसे क़त्ल मत करना, काल-कोठरी में क़ैद कर दो। मुझसे पूछे बग़ैर इसे दाना-पानी कुछ न दिया जाय। जाकर इसके घर का सारा माल-असबाब जब्त कर लो, औरसारे खानदान को जेल में बंद करा दो। इसके मकान की दीवारें जमींदोज़ करा देना। घर में एक फूटी हाँडी भी न रहने पावे।"

इससे तो कहीं अच्छा यही था कि राजा साहब ही की जान जाती। खानदान की बेइज्जती तो न होती, महिलाओं का अपमान तो न होता, दरिद्रता की चोटें तो न सहनी पड़तीं! विकार को निकलने का मार्ग नहीं मिलता, तो वह सारे शरीर में फैल जाता है। राजा के प्राण तो बचे, पर सारे खानदान को विपत्ति में डालकर!

रोशनुद्दौला को मुँह-माँगी मुराद मिली। उसकी ईर्ष्या कभी इतनी संतुष्ट न हुई थी। वह मग्न था कि आज वह काँटा निकल गया, जो बरसों से हृदय में चुभा हुआ था। आज हिंदू-राज्य का अंत हुआ। अब मेरा सिक्का चलेगा, अब मैं समस्त राज्य का विधाता हूँगा। संध्या से पहले ही राजा साहब

की सारी स्थावर और जंगम संपत्ति क़ुर्क़ हो गई। वृद्ध माता-पिता, सुकोमल रमणियाँ, छोटे-छोटे बालक, सब-के-सब जेल में क़ैद कर दिए गए। कितनी करुण दशा थी! वे महिलाएँ, जिन पर कभी देवताओं की भी निगाह न पड़ी थी, खुले मुँह, नंगे पैर, पाँव घसीटती, शहर की भरी हुई सड़कों और गलियोंसे होती हुई, सिर झुकाए, शोक-चित्रों की भाँति, जेल की तरफ़ चली जाती थीं। सशस्त्र सिपाहियों का एक बड़ा दल साथ था। जिस पुरुष के एक इशारे पर कई घंटे पहले सारे शहर में हलचल मच जाती, उसी के ख़ानदान की यह दुर्दशा!

(२)

राजा बख़्तावरसिंह को बंदी-गृह में रहते हुए एक मास बीत गया। वहाँ उन्हें सभी प्रकार के कष्ट दिए जाते थे। यहाँ तक कि भोजन भी यथासमय न मिलता था। इनके परिवार को भी असह्य यातनाएँ दी जाती थीं। लेकिन राजा साहब को बंदी-गृह में एक प्रकार की शांति का अनुभव होता था। वहाँ प्रतिक्षण यह खटका तो न रहता था कि बादशाह मेरी किसी बात से नाराज़ न हो जायँ; मुसाहब लोग कहीं मेरी शिकायत तो नहीं कर रहे हैं। शारीरिक कष्टों का सहना उतना कठिन नहीं, जितना मानसिक कष्टों का। यहाँ सब तकलीफ़ें थीं, पर सिर पर तलवार तो नहीं लटक रही थी। उन्होंने मन में निश्चय किया कि अब चाहे बादशाह मुझे मुक्त भी कर दें,

मगर मैं राज-काज से अलग ही रहूँगा। इस राज्य का सूर्य अस्त होनेवाला है; कोई मानवीय शक्ति उसे विनाश-निशा में लीन होने से नहीं रोक सकती। ये उसी पतन के लक्षण हैं; नहीं तो क्या मेरी राज्य-भक्ति का यही पुरस्कार मिलना चाहिए था! मैंने अब तक कितनी कठिनाइयों से राज्य की रक्षा की है, यह भगवान् ही जानते हैं। एक तो बादशाह की निरंकुशता, दूसरी ओर बलवान् और युक्ति-संपन्न शत्रुओं की कूटनीति—इस शिला और भँवर के बीच में राज्य की नौका को चलाते रहना कितना कष्ट-साध्य था! शायद ही ऐसा कोई दिन गुज़रा होगा, जिस दिन मेरा चित्त प्राण-शंका से आंदोलित न हुआ हो। इस सेवा, भक्ति और तल्लीनता का यह पुरस्कार है! मेरे मुख से व्यंग्य-शब्द अवश्य निकले, लेकिन उनके लिये इतना कठोर दंड! इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि मैं क़त्ल कर दिया गया होता। अपनी आँखों से अपने परिवार की दुर्गति तो न देखता। सुनता हूँ, पिताजी को सोने के लिये चटाई नहीं दी गई। न-जाने स्त्रियों पर कैसे-कैसे अत्याचार हो रहे होंगे। लेकिन इतना जानता हूँ कि प्यारी सुखदा अंत तक अपने सतीत्व की रक्षा करेगी; अन्यथा प्राण त्याग देगी। मुझे इन बेड़ियों की परवा नहीं। पर सुनता हूँ, लड़कों के पैरों में भी बेड़ियाँ डाली गई हैं। यह सब इसी कुटिल रोशनुद्दौला की शरारत है। जिसका जी चाहे, इस समय

सता ले, कुचल ले; मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं। भगवान् से यही प्रार्थना है कि अब संसार से उठा ले। मुझे अपने जीवन में जो कुछ करना था, कर चुका, और उसका खूब फल पा चुका। मेरे-जैसे आदमी के लिये संसार में स्थान नहीं है।

राजा साहब इन्हीं विचारों में डूबे थे। सहसा उन्हें अपनी काल-कोठरी की ओर किसी के आने की आहट मिली। रात बहुत जा चुकी थी। चारो ओर सन्नाटा छाया था, और उस अंधकारमय सन्नाटे में किसी के पैरों की चाप स्पष्ट सुनाई देती थी। कोई बहुत पाँव दबा-दबाकर चला आ रहा था। राजा साहब का कलेजा धक-धक करने लगा। वह उठकर खड़े हो गए। हम निरस्त्र और प्रतिकार के लिये असमर्थ होने पर भी बैठे-बैठे वारों का निशाना बनना नहीं चाहते। खड़े हो जाना आत्मरक्षा का अंतिम प्रयत्न है। कोठरी में ऐसी कोई वस्तु न थी, जिससे वह अपनी रक्षा कर सकते। समझ गए, अंतिम समय आ गया। शत्रुओं ने इस तरह मेरे प्राण लेने की ठानी है। अच्छा है, जीवन के साथ इस विपत्ति का भी अंत हो जायगा।

एक क्षण में उनके सम्मुख एक आदमी आकर खड़ा हो गया। राजा साहब ने पूछा—"कौन है?" उत्तर मिला—"मैं हूँ आपका सेवक।"

राजा—"ओहो, तुम हो कप्तान! मैं शंका में पड़ा हुआ

था कि कहीं शत्रुओं ने मेरा वध करने के लिये कोई दूत न भेजा हो।"

कप्तान—"शत्रुओं ने कुछ और ही ठानी है। आज बादशाह सलामत की जान बचती नहीं नज़र आती।"

राजा—"अरे! यह क्यों कर?"

कप्तान—"जब से आपको यहाँ नज़रबंद किया गया है, सारे राज्य में हाहाकार मचा हुआ है। स्वार्थी कर्मचारियों ने लूट मचा रक्खी है। अँगरेज़ों की ख़ुदाई फिर रही है। जो जी में आता है, करते हैं; किसी की मजाल नहीं कि चूँ कर सके। इस एक महीने में शहर के सैकड़ों बड़े-बड़े रईस मिट गए। रोशनुद्दौला की बादशाही है। बाज़ारों का भाव चढ़ता जाता है। बाहर से व्यापारी लोग डर के मारे कोई जिंस ही नहीं लाते। दूकानदारों से मनमानी रक़में महसूल के नाम पर वसूल की जा रही हैं। ग़ल्ले का भाव इतना चढ़ गया है कि कितने ही घरों में चूल्हा जलने की नौबत नहीं आती। सिपाहियों को अभी तक तनख़्वाह नहीं मिली। वे जाकर दूकानदारों को लूटते हैं। सारे राज्य में बदअमली हो रही है। मैंने कई बार यह कैफ़ियत बादशाह सलामत के कानों तक पहुँचाने की कोशिश की; मगर वह यह तो कह देते हैं कि मैं इसकी तहक़ीक़ात करूँगा, और फिर बेख़बर हो जाते हैं। आज शहर के बहुत-से दूकानदार फ़रियाद लेकर आए थे कि हमारे हाल पर निगाह न की गई, तो हम शहर छोड़कर और कहीं

चले जायँगे। क्रिस्तानों ने उन्हें सख्त कहा, धमकाया; लेकिन उन्होंने जब तक अपनी सारी मुसीबत न बयान कर ली, वहाँ से न हटे। आख़िर जब बादशाह सलामत ने उन्हें दिलासा दिया, तब कहीं गए।"

राजा—"बादशाह पर इतना असर हुआ, मुझे तो यही ताज्जुब है!"

कप्तान—"असर-वसर कुछ नहीं हुआ; यह भी उनकी एक दिल्लगी है। शाम को खास मुसाहबों को बुलाकर हुक्म दिया है कि आज मैं भेष बदलकर शहर का गश्त करूँगा, तुम लोग भी भेष बदले हुए मेरे साथ रहना। मैं देखना चाहता हूँ कि रियाया क्यों इतनी घबराई हुई है। सब लोग मुझसे दूर रहें; किसी को न मालूम हो कि मैं कौन हूँ। रोशनुद्दौला और पाँचो अँगरेज़ मुसाहब साथ रहेंगे।"

राजा—"तुम्हें क्योंकर यह बात मालूम हो गई?"

कप्तान—"मैंने उसी अँगरेज़ हज्जाम को मिला रक्खा है। दरबार में जो कुछ होता है, उसका पता मुझे मिल जाता है। उसी की सिफ़ारिश से आपकी ख़िदमत में हाज़िर होने का मौक़ा मिला। घड़ियाल में दस बजते हैं। ग्यारह बजे चलने की तैयारी है। बारह बजते-बजते लखनऊ का तख्त खाली हो जायगा।"

राजा—[घबराकर] "क्या इन सबने उन्हें क़त्ल करने की साज़िश कर रक्खी है?"

कप्तान—"जी नहीं, क़त्ल करने से उनकी मंशा पूरी न होगी। बादशाह को बाज़ार की सैर कराते हुए गोमती की तरफ़ ले जायँगे। वहाँ अँगरेज़ सिपाहियों का एक दस्ता तैयार रहेगा। वह बादशाह को फ़ौरन् एक गाड़ी पर बिठा-कर रेज़िडेंसी ले जायगा। वहाँ रेज़िडेंट साहब बादशाह सलामत को सल्तनत से इस्तीफ़ा देने पर मजबूर करेंगे। उसी वक़्त उनसे इस्तीफ़ा लिखा लिया जायगा, और इसके बाद रातोरात उन्हें कलकत्ते भेज दिया जायगा।"

राजा—"बड़ा ग़ज़ब हो गया। अब तो वक़्त बहुत कम है; बादशाह सलामत निकल पड़े होंगे ?"

कप्तान—"ग़ज़ब क्या हो गया। इनकी ज़ात से किसे आराम था। दूसरी हुकूमत चाहे कितनी ही ख़राब हो, इससे तो अच्छी ही होगी।"

राजा—"अँगरेज़ों की हुकूमत होगी ?"

कप्तान—"अँगरेज़ इनसे कहीं बेहतर इंतज़ाम करेंगे।"

राजा—[करुण स्वर से] "कप्तान ! ईश्वर के लिये ऐसी बातें न करो। तुमने मुझसे ज़रा देर पहले यह कैफ़ियत क्यों न बयान की ?"

कप्तान—[आश्चर्य से] "आपके साथ तो बादशाह ने कोई अच्छा सलूक नहीं किया !"

राजा—"मेरे साथ कितना ही बुरा सलूक किया हो, लेकिन एक राज्य की क़ीमत एक आदमी या एक ख़ानदान

की जान से कहीं ज्यादा होती है। तुम मेरे पैरों की बेड़ियाँ खुलवा सकते हो ?"

कप्तान—"सारे अवध-राज्य में एक भी ऐसा आदमी न निकलेगा, जो बादशाह को सच्चे दिल से दुआ देता हो। दुनिया उनके ज़ुल्म से तंग आ गई है।"

राजा—"मैं अपनों के ज़ुल्म को ग़ैरों की बंदगी से कहीं बेहतर ख़याल करता हूँ। बादशाह की यह हालत ग़ैरों ही के भरोसे पर हुई है। वह इसीलिये किसी की परवा नहीं करते कि उन्हें अँगरेज़ों की मदद का यक़ीन है। मैं इन फ़िरंगियों की चालों को ग़ौर से देखता आया हूँ। बादशाह के मिज़ाज को उन्हीं ने बिगाड़ा है। उनकी मंशा यही थी, जो हुआ। रियाया के दिल से बादशाह की इज्ज़त और मुहब्बत उठ गई। आज सारा मुल्क बग़ावत करने पर आमादा है। ये लोग इसी मौक़े का इंतज़ार कर रहे थे। वह जानते हैं कि बादशाह की माज़ूली (गद्दी से हटाए जाने) पर एक आदमी भी आँसू न बहावेगा। लेकिन मैं जताए देता हूँ कि अगर इस वक़्त तुमने बादशाह को दुश्मनों के हाथों से न बचाया, तो तुम हमेशा के लिये, अपने ही वतन में, ग़ुलामी की ज़ंजीरों में बँध जाओगे। किसी ग़ैर क़ौम के चाकर बनकर अगर तुम्हें आफ़ियत (शांति) भी मिली, तो वह आफ़ियत न होगी ; मौत होगी। ग़ैरों के बेरहम पैरों के नीचे पड़कर तुम हाथ भी न हिला सकोगे, और यह उम्मीद कि कभी हमारे

मुल्क में आईनी सल्तनत (वैध शासन) क़ायम होगी, हसरत का दाग़ बनकर रह जायगी। नहीं मुझमें अभी मुल्क की मुहब्बत बाक़ी है। मैं अभी इतना बेजान नहीं हुआ हूँ। मैं इतनी आसानी से सल्तनत को हाथ से न जाने दूँगा, अपने को इतने सस्ते दामों ग़ैरों के हाथों न बेचूँगा, मुल्क की इज्ज़त न मिटने दूँगा, चाहे इस कोशिश में मेरी जान ही क्यों न जाय। कुछ और नहीं कर सकता, अपनी जान तो दे ही सकता हूँ। मेरी बेड़ियाँ खोल दो।"

कप्तान—"मैं आपका ख़ादिम हूँ, मगर मुझे यह मजाज़ नहीं।"

राजा—[जोश में आकर] "ज़ालिम, यह इन बातों का वक़्त नहीं। एक-एक पल हमें तबाही की तरफ़ लिए जा रहा है। खोल दे ये बेड़ियाँ। जिस घर में आग लगी है, उसके आदमी ख़ुदा को नहीं याद करते, कुएँ की तरफ़ दौड़ते हैं।"

कप्तान—"आप मेरे मुहसिन हैं। आपके हुक्म से मुँह नहीं मोड़ सकता। लेकिन—"

राजा—"जल्दी करो, जल्दी करो। अपनी तलवार मुझे दे दो। अब इन तकल्लुफ़ की बातों का मौक़ा नहीं है।"

कप्तान साहब निरुत्तर हो गए। सजीव उत्साह में बड़ी संक्रामक शक्ति होती है। यद्यपि राजा साहब के नीति पूर्ण वार्तालाप ने उन्हें माक़ूल नहीं किया, तथापि वह अनिवार्य रूप से उनकी बेड़ियाँ खोलने पर तत्पर हो गए। उसी वक़्त

जेल के दारोग़ा को बुलाकर कहा—"साहब ने हुक्म दिया है कि राजा साहब को फ़ौरन् आज़ाद कर दिया जाय। इसमें एक पल की भी ताख़ीर (विलंब) हुई, तो तुम्हारे हक़ में अच्छा न होगा।"

दारोग़ा को मालूम था, कप्तान साहब और मि०......में गाढ़ी मैत्री है। अगर......साहब नाराज़ हो जायगे, तो रोशनुद्दौला की कोई सिफ़ारिश मेरी रक्षा न कर सकेगी। उसने राजा स.हब की बेड़ियाँ खोल दीं।

राजा साहब जब तलवार हाथ में लेकर जेल से निकले, तो उनका हृदय राज्य-भक्ति की तरंगों से आंदोलित हो रहा था। उसी वक़्त घड़ियाल ने ११ बजाए।

(३)

आधी रात का समय था। मगर लखनऊ की तंग गलियों में ख़ूब चहल-पहल थी। ऐसा मालूम होता था, अभी सिर्फ़ ६ बजे होंगे। सराफ़े में सबसे ज़्यादा रौनक़ थी। मगर आश्चर्य यह था कि किसी दूकान पर जवाहरात या गहने नहीं दिखाई देते थे। केवल आदमियों के आने-जाने की भीड़ थी। जिसे देखो, पाँचो शस्त्रों से सुसज्जित, मूछें खड़ी किए, ऐंठता हुआ चला जाता है। बाज़ार के मामूली दूकानदार भी निश्शस्त्र न थे।

सहसा एक आदमी, भारी साफ़ा बाँधे, पैर की घुटनियों तक नीची क़बा पहने, कमर में पटका बाँधे, आकर एक

सराफ़ की दूकान पर खड़ा हो गया। जान पड़ता था, कोई ईरानी सौदागर है। उन दिनों ईरान के व्यापारी लखनऊ में बहुत आते-जाते थे। इस समय ऐसे किसी आदमी का आ जाना असाधारण बात न थी।

सराफ़ का नाम माधोदास था। बोला—"कहिए मीर साहब, कुछ दिखाऊँ?"

सौदागर—"सोने का क्या निर्ख है?"

माधो०—[सौदागर के कान के पास मुँह ले जाकर] "निर्ख की कुछ न पूछिए। आज क़रीब एक महीने से बाज़ार का निर्ख बिगड़ा हुआ है। माल बाज़ार में आता ही नहीं। लोग दबाए हुए हैं; बाजारों में ख़ौफ़ के मारे नहीं लाते। अगर आपको ज्यादा माल दरकार हो, तो मेरे साथ ग़रीबख़ाने तक तकलीफ़ कीजिए। जैसा माल चाहिए, लीजिए। निर्ख मुनासिब ही होगा। इसका इतमीनान रखिए।"

सौदागर—"आजकल बाजार का निर्ख क्यों बिगड़ा हुआ है?"

माधो०—"क्या आप हाल ही में वारिद हुए हैं?"

सौदागर—"हाँ, मैं आज ही आया हूँ। कहीं पहले की-सी रौनक़ नहीं नजर आती। कपड़े का बाज़ार भी सुस्त है। ढाके का एक क़ीमती थान बहुत तलाश करने पर भी नहीं मिला।"

माधो०—"इसके बड़े क़िस्से हैं; कुछ ऐसा ही मामला है।"

सौदागर—"डाकुओं का ज़ोर तो नहीं है ? पहले तो यहाँ इस क़िस्म की वारदातें नहीं होती थीं।"

माधो०—"अब वह कैफ़ियत नहीं है। दिन-दहाड़े डाके पड़ते हैं। उन्हें कोतवाल क्या, बादशाह सलामत भी गिरफ़्तार नहीं कर सकते। अब और क्या कहूँ। दीवार के भी कान होते हैं। कहीं कोई सुन ले, तो लेने-के-देने पड़ जायँ।"

सौदागर—"सेठजी, आप तो पहेलियाँ बुझवाने लगे। मैं परदेसी आदमी हूँ ; यहाँ किससे कहने जाऊँगा। आख़िर बात क्या है ? बाज़ार क्यों इतना बिगड़ा हुआ है ? नाज की मंडी की तरफ़ गया, तो वहाँ भी सन्नाटा छाया हुआ था। मोटी जिंस भी दूने दामों पर बिक रही थी।"

माधो०—[इधर-उधर चौकन्नी आँखों से देखकर] "एक महीना हुआ, रोशनुद्दौला के हाथ में स्याह-सफ़ेद करने का अख़्तियार आ गया है। यह सब उन्हीं की बदइंतज़ामी का फल है। उनके पहले राजा बख़्तावरसिंह हमारे मालिक थे। उनके वक़्त में किसी की मजाल न थी कि व्यापारियों को टेढ़ी आँख से देख सकता। उनका रोब सभी पर छाया हुआ था। फ़िरंगियों पर उनकी कड़ी निगाह रहती। हुक्म था कि कोई फ़िरंगी बाज़ार में आवे, तो थाने का सिपाही उसकी देख-भाल करता रहे। इसी वजह से फ़िरंगी उनसे जला करते थे। आख़िर सबने रोशनुद्दौला को मिलाकर बख़्तावरसिंह को बेक़ुसूर क़ैद करा दिया। बस, तब से बाज़ार में लूट मची हुई है। सरकारी

अमले अलग लूटते हैं ; फ़िरंगी अलग नोचते-खसोटते हैं। जो चीज़ चाहते हैं, उठा ले जाते हैं। दाम माँगो, तो धमकियाँ देते हैं। शाही दरबार में फ़रियाद करो, तो उलटे सज़ा होती है। अभी हाल ही में हम सब मिलकर बादशाह सलामत की ख़िदमत में हाज़िर हुए थे। पहले तो वह बहुत नाराज़ हुए, पर आख़िर रहम आ गया। बादशाहों का मिज़ाज ही तो है। हमारी सब शिकायतें सुनीं, और तसक़ीन दी कि हम तहक़ीक़ात करेंगे। मगर अभी तक तो वही लूट-खसोट जारी है।"

इतने में तीन आदमी राजपूती ढंग की मिर्ज़ई पहने आकर दूकान के सामने खड़े हो गए। माधोदास उनका रंग-ढंग देखकर चौंका। शाही फ़ौज के सिपाही बहुधा इसी सज-धज से निकलते थे। तीनो आदमी भी सौदागर को देखकर ठिठके ; पर उसने उन्हें कुछ ऐसी निगाहों से देखा कि तीनो आगे चले गए। तब सौदागर ने माधोदास से पूछा—"इन्हें देखकर तुम क्यों चौंके ?"

माधोदास ने कहा—"ये फ़ौज के सिपाही हैं। जब से राजा बख़्तावरसिंह नज़र-बंद हुए हैं, इन पर किसी की दाब ही नहीं रही। खुले साँड़ की तरह बाज़ारों में चक्कर लगाया करते हैं। सरकार से तलब मिलने का कुछ ठीक तो है नहीं। बस, नोच-खसोट करके गुज़र करते हैं। हाँ, तो फिर अगर मरज़ी हो, तो मेरे साथ घर तक चलिए, आपको माल दिखाऊँ।"

सौदागर—"नहीं, भई, इस वक़्त नहीं; सुबह आऊँगा। देर हो गई है, और मुझे भी यहाँ की हालत देखकर ख़ौफ़ मालूम होने लगा है।"

यह कहकर सौदागर उसी तरफ़ चला गया, जिधर वे तीनो राजपूत गए थे। थोड़ी देर में और तीन आदमी सराफ़े में आए। एक तो पंडितों की तरह नीची चपकन पहने हुए था; सिर पर गोल पगिया थी, और कंधे पर ज़री के काम का शाल। उसके दोनो साथी ख़िदमतगारों के-से कपड़े पहने हुए थे। तीनो इस तरह इधर-उधर ताक रहे थे, मानो किसी को खोज रहे हों। यों ताकते हुए तीनो आगे चले गए।

ईरानी सौदागर तीव्र नेत्रों से इधर-उधर देखता हुआ एक मील चला गया। वहाँ एक छोटा-सा बाग़ था। एक पुरानी मस्जिद भी थी। सौदागर वहाँ ठहर गया। एकाएक तीनो राजपूत मस्जिद से बाहर निकल आए, और बोले—"हुज़ूर तो बहुत देर तक सराफ़ की दूकान पर बैठे रहे। क्या बातें हुईं?"

सौदागर ने अभी कुछ जवाब न दिया था कि पीछे से पंडित और उनके दोनो ख़िदमतगार भी आ पहुँचे। सौदागर ने पंडित को देखते ही भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—"मियाँ रोशनुद्दौला, मुझे इस वक़्त तुम्हारे ऊपर इतना ग़ुस्सा आ रहा है कि तुम्हें कुत्तों से नुचवा दूँ। नमकहराम कहीं का! दग़ाबाज़!! तूने मेरी सल्तनत को तबाह कर दिया! सारा शहर तेरे ज़ुल्म का रोना रो रहा है! मुझे आज मालूम हुआ

कि तूने क्यों राजा बख़्तावरसिंह को क़ैद कराया। मेरी अक़्ल पर न-जाने क्यों पत्थर पड़ गए थे कि मैं तेरी चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गया। इस नमकहरामी की तुझे वह सज़ा दूँगा कि देखनेवालों को भी इबरत (शिक्षा) हो।"

रोशनुद्दौला ने निर्भीकता से उत्तर दिया—"आप मेरे बादशाह हैं, इसलिये आपका अदब करता हूँ, वरना इसी वक़्त इस बदज़बानी का मज़ा चखा देता। ख़ुद आप तो महल में हसीनों के साथ ऐश किया करते हैं, दूसरों को क्या ग़रज़ पड़ी है कि सल्तनत की फ़िक्र से दुबले हों। ख़ूब. हम अपना ख़ून जलावें, और आप जश्न मनावें। ऐसे अहमक़ कहीं और रहते होंगे।"

बादशाह—[क्रोध से काँपते हुए]"मि०..., मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि इस नमकहराम को अभी गोली मार दो। मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। और, इसी वक़्त जाकर इसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर लो। इसके ख़ानदान का एक बच्चा भी ज़िंदा न रहने पावे।"

रोशन०—"मि०....., मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि इस मुल्क और क़ौम के दुश्मन, रैयत-क़ातिल और बदकार आदमी को फ़ौरन् गिरफ़्तार कर लो। यह इस क़ाबिल नहीं कि ताज और तख़्त का मालिक बने।"

इतना सुनते ही पाँचो अँगरेज़ मुसाहबों ने, जो भेष बदले हुए साथ थे, बादशाह के दोनो हाथ पकड़ लिए, और

खींचते हुए गोमती की तरफ़ ले चले। बादशाह की आँखें खुल गईं। समझ गए कि पहले ही से यह षड्यंत्र रचा गया था। इधर-उधर देखा, कोई आदमी नहीं। शोर मचाना व्यर्थ था। बादशाही का नशा उतर गया। दुरवस्था वह परीक्षाग्नि है, जो मुलम्मे और रोग़न को उतारकर मनुष्य का यथार्थ रूप दिखा देती है। ऐसे ही अवसरों पर विदित होता है कि मानव-हृदय पर कृत्रिम भावों का कितना गहरा रंग चढ़ा होता है। एक क्षण में बादशाह की उद्दंडता और घमंड ने दीनता और विनयशीलता का आश्रय लिया। बोले—"मैंने तो आप लोगों की मरज़ी के ख़िलाफ़ ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसकी यह सज़ा मिले। मैंने आप लोगों को हमेशा अपना दोस्त समझा है।"

रोशन०—'तो हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह भी आपके फ़ायदे के लिये ही कर रहे हैं। हम आपके सिर से सल्तनत का बोझ उतारकर आपको आज़ाद कर देंगे। तब आपके ऐश में ख़लल न पड़ेगा। आप बेफ़िक्र होकर हसीनों के साथ ज़िंदगी के मज़े लूटिएगा।"

बादशाह—"तो क्या आप लोग मुझे तख़्त से उतारना चाहते हैं?"

रोशन०—'नहीं, आपको बादशाही की ज़िम्मेदारियों से आज़ाद कर देना चाहते हैं।"

बादशाह—"हज़रत इमाम की क़सम, मैं यह ज़िल्लत

न बर्दाश्त करूँगा। मैं अपने बुज़ुर्गों का नाम न डुबाऊँगा।"

रोशन०—"आपके बुज़ुर्गों के नाम की फ़िक्र हमें आपसे ज़्यादा है। आपकी ऐशपरस्ती बुज़ुर्गों का नाम रोशन नहीं कर रही है।"

बादशाह—[दीनता से] "मैं वादा करता हूँ कि आइंदा से आप लोगों को शिकायत का कोई मौक़ा न दूँगा।"

रोशन०—"नशेबाज़ों के वादों पर कोई दीवाना ही यक़ीन ला सकता है।"

बादशाह—"तुम मुझे तख्त से जबरदस्ती नहीं उतार सकते।"

रोशन०—"इन धमकियों की ज़रूरत नहीं। चुपचाप चले चलिए; आगे आपको सेज गाड़ी मिल जायगी। हम आपको इज़्ज़त के साथ रुख़सत करेंगे।"

बादशाह—"आप जानते हैं, रियाया पर इसका क्या असर होगा?"

रोशन०—"ख़ूब जानता हूँ! आपकी हिमायत में एक उँगली भी न उठेगी। कल सारी सल्तनत में घी के चिराग़ जलेंगे।"

इतनी देर में सब लोग उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ बादशाह को ले जाने के लिये सवारी तैयार खड़ी थी। लगभग २५ सशस्त्र गोरे सिपाही भी खड़े थे। बादशाह सेज-गाड़ी देखकर मचल गए। उनके रुधिर की गति तीव्र हो गई। भोग

और विलास के नीचे दबी हुई मर्यादा सजग हो गई। उन्होंने ज़ोर से झटका देकर अपना हाथ छुड़ा लिया, और नैराश्य-पूर्ण दुस्साहस के साथ, परिणाम-भय को त्यागकर, उच्च स्वर से बोले—"ऐ लखनऊ के बसनेवालो! तुम्हारा बादशाह यहाँ दुश्मनों के हाथों क़त्ल किया जा रहा है। उसे इनके हाथ से बचाओ, दौड़ो, वरना पछताओगे।"

यह आर्त पुकार आकाश की नीरवता को चीरती हुई गोमती की लहरों में विलीन नहीं हुई, बल्कि लखनऊवालों के हृदयों में जा पहुँची। राजा बख्तावरसिंह बंदी-गृह से निकलकर नगर-निवासियों को उत्तेजित करते, और प्रतिक्षण रक्षाकारियों के दल को बढ़ाते, बड़े वेग से, दौड़े चले आ रहे थे। एक पल का विलंब भी षड्यंत्रकारियों के घातक विरोध को सफल कर सकता था। देखते-देखते उनके साथ दो-तीन हज़ार सशस्त्र मनुष्यों का दल हो गया था। यह सामूहिक शक्ति बादशाह और लखनऊ-राज्य का उद्धार कर सकती थी। समय सब कुछ था। बादशाह गोरी सेना के पंजे में फँस गए, तो फिर समस्त लखनऊ भी उन्हें मुक्त न कर सकता था। राजा साहब ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे, नैराश्य से दिल बैठा जाता था। विफल-मनोरथ होने की शंका से उत्साह भंग हुआ जाता था। अब तक कहीं उन लोगों का पता नहीं! अवश्य हम देर में पहुँचे। विद्रोहियों ने अपना काम पूरा कर लिया। लखनऊ-राज्य की स्वाधीनता सदा के लिये विसर्जित हो गई!

ये लोग निराश होकर लौटना ही चाहते थे कि अचानक बादशाह का आर्तनाद सुनाई दिया। कई हजार कंठों से आकाश-भेदी ध्वनि निकली—"हुजूर को खुदा सलामत रक्खे, हम फ़िदा होने को आ पहुँचे !"

समस्त दल एक ही प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर, वेगवती जल-धारा की भाँति, घटना-स्थल की ओर दौड़ा। अशक्त लोग भी सशक्त हो गए। पिछड़े हुए लोग आगे निकल जाना चाहते थे। आगे के लोग चाहते थे कि उड़कर जा पहुँचें।

इन आदमियों की आहट पाते ही गोरों ने बंदूकें भरीं, और २५ बंदूक़ों की बाढ़ सर हो गई। रक्षाकारियों में से कितने ही लोग गिर पड़े; मगर क़दम पीछे न हटे। वीर-मद ने और भी मतवाला कर दिया। एक क्षण में दूसरी बाढ़ आई; कुछ लोग फिर वीर-गति को प्राप्त हुए। लेकिन क़दम आगे ही बढ़ते गए। तीसरी बाढ़ छूटनेवाली ही थी कि लोगों ने विद्रोहियों को जा लिया। गोरे भागे।

लोग बादशाह के पास पहुँचे। अद्भुत दृश्य था। बादशाह रोशनुद्दौला की छाती पर सवार थे। जब गोरे जान लेकर भागे, तो बादशाह ने इस नर-पिशाच को पकड़ लिया था, और उसे बल-पूर्वक भूमि पर गिराकर उसकी छाती पर बैठ गए थे। अगर उनके हाथ में हथियार होता, तो इस वक़्त रोशनुद्दौला की लाश फड़कती हुई दिखाई देती।

राजा बख्तावरसिंह आगे बढ़कर बादशाह को आदाब बजा लाए। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश हिल उठा। कोई बादशाह के पैरों को चूमता, कोई उन्हें आशीर्वाद देता।

रोशनुद्दौला का शरीर तो लात और घूँसों का लक्ष्य बना हुआ था। कुछ बिगड़-दिल ऐसे भी थे, जो उसके मुँह पर थूकते भी संकोच न करते थे।

(४)

प्रातःकाल था। लखनऊ में आनंदोत्सव मनाया जा रहा था। बादशाही महल के सामने लाखों आदमी जमा थे। सब लोग बादशाह को यथायोग्य नज़र देने आए थे। जगह-जगह ग़रीबों को भोजन कराया जा रहा था। शाही नौबत-ख़ाने में नौबत झड़ रही थी।

दरबार सजा। बादशाह हीरे और जवाहर से जगमगाते, रत्न-जटित आभूषणों से सजे हुए सिंहासन पर आ विराजे। रईसों और अमीरों ने नज़रें गुज़ारीं। शायरों ने क़सीदे पढ़े। एकाएक बादशाह ने पूछा—"राजा बख़्तावरसिंह कहाँ हैं?" कप्तान ने जवाब दिया—"क़ैदख़ाने में।"

बादशाह ने उसी वक़्त कई कर्मचारियों को भेजा कि राजा साहब को जेलख़ाने से इज़्ज़त के साथ लावें। थोड़ी देर बाद राजा ने आकर बादशाह को सलाम किया, वह तख़्त से उतरकर उनसे गले मिले, और उन्हें अपनी दाहनी ओर सिंहासन पर बैठाया। फिर दरबार में खड़े

होकर उनकी सुकीर्ति और राज्य-भक्ति की प्रशंसा करने के उपरांत अपने ही हाथों से उन्हें खिलअत पहनाई। राजा साहब के कुटुंब के प्राणी भी आदर और सम्मान के साथ विदा किए गए।

अंत को जब दोपहर के समय दरबार बरखास्त होने लगा, तो बादशाह ने राजा साहब से कहा—"आपने मुझ पर और मेरी सल्तनत पर जो एहसान किया है, उसका सिला (पुरस्कार) देना मेरे इमकान से बाहर है। मेरी आपसे यही इल्तिजा (अनुरोध) है कि आप वज़ारत का क़लमदान अपने हाथ में लीजिए, और सल्तनत का, जिस तरह मुनासिब समझिए, इंतज़ाम कीजिए। मैं आपके किसी काम में दख़ल न दूँगा। मुझे एक गोशे में पड़ा रहने दीजिए। नमकहराम रोशन को भी मैं आपके सिपुर्द किए देता हूँ। आप जो सज़ा चाहें, इसे दें। मैं इसे कब का जहन्नुम भेज चुका होता; पर यह समझकर कि यह आपका शिकार है, इसे छोड़े हुए हूँ।"

लेकिन बख्तावरसिंह बादशाह के उच्छृंखल स्वभाव से भली भाँति परिचित थे। वह जानते थे, बादशाह की ये सदिच्छाएँ थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं। मानव-चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं। दो-चार महीने में दरबार का फिर वही रंग हो जायगा। इसलिये मेरा तटस्थ रहना ही अच्छा है। राज्य के प्रति मेरा जो कुछ कर्तव्य था, वह

मैंने पूरा कर दिया। मैं दरबार से अलग रहकर, निष्काम भाव से, जितनी सेवा कर सकता हूँ, उतनी दरबार में रहकर कदापि नहीं। हितैषी-मित्र का जितना सम्मान होता है, स्वामिभक्त सेवक का उतना नहीं हो सकता।

वह विनीत भाव से बोले—"हुज़ूर, मुझे इस ओहदे से मुआफ़ रक्खें। मैं यों ही आपका ख़ादिम हूँ। इस मंसब पर किसी लायक़ आदमी को मामूर फ़रमाइए (नियुक्त कीजिए)। मैं अक्खड़ राजपूत हूँ। मुल्की इंतज़ाम करना क्या जानूँ।"

बादशाह—"मुझे तो आपसे ज़्यादा लायक़ और वफ़ादार आदमी नज़र नहीं आता।"

मगर राजा साहब उनकी बातों में न आए। आख़िर मजबूर होकर बादशाह ने उन्हें ज़्यादा न दबाया। दम-भर बाद जब रोशनुद्दौला को सज़ा देने का प्रश्न उठा, तब दोनो आदमियों में इतना मत-भेद हुआ कि वाद-विवाद की नौबत आ गई। बादशाह आग्रह करते थे कि इसे कुत्तों से नुचवा दिया जाय। राजा साहब इस बात पर अड़े हुए थे कि इसे जान से न मारा जाय, केवल नज़रबंद कर दिया जाय। अंत में बादशाह ने क्रुद्ध होकर कहा—"यह एक दिन आपको ज़रूर दग़ा देगा!"

राजा—"इस ख़ौफ़ से मैं इसकी जान न लूँगा।"

बादशाह—"तो जनाब, आप चाहे इसे मुआफ़ कर दें, मैं कभी मुआफ़ नहीं कर सकता।"

राजा—"आपने तो इसे मेरे सिपुर्द कर दिया है। दी हुई चीज़ को आप वापस कैसे लेंगे?"

बादशाह ने कहा—"तुमने मेरे निकलने का कहीं रास्ता ही नहीं रक्खा।"

रोशनुद्दौला की जान बच गई। वज़ारत का पद कप्तान साहब को मिला। मगर सबसे विचित्र बात यह थी कि रेज़ी-डेंट ने इस षड्यंत्र से पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट की, और साफ़ लिख दिया कि बादशाह सलामत अपने अँगरेज़ मुसाहबों को चाहे जो सज़ा दें, मुझे कोई आपत्ति न होगी। मैं उन्हें पाता, तो स्वयं बादशाह की ख़िदमत में भेज देता, लेकिन पाँचो महानुभावों में से एक का भी पता न चला। शायद वे सब-के-सब रातो-रात कलकत्ते भाग गए थे। इतिहास में उक्त घटना का कहीं उल्लेख नहीं किया गया; लेकिन किंवदंतियाँ, जो इतिहास से अधिक विश्वसनीय हैं, उसकी सत्यता की साक्षी हैं।

अधिकार-चिंता

(१)
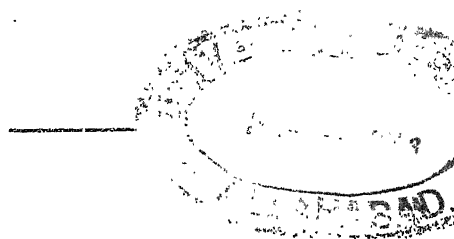
टामी यों देखने में तो बहुत तगड़ा था। भूँकता, तो सुननेवालों के कानों के परदे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात में उस पर गधे का भ्रम हो जाता। लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी संग्राम क्षेत्र में प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफ़े जब बाजार के लेंडियों ने उसे चुनौती दी, तो वह उनका गर्व-मर्दन करने के लिये मैदान में आया। देखनेवालों का कहना है कि वह जब तक लड़ा, जीवट से लड़ा; नखों और दाँतों से ज्यादा चोटें उसकी दुम ने कीं। निश्चित-रूप से नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहता, किंतु जब उस दल को कुमक मँगानी पड़ी, तो रण-शास्त्र के नियमों के अनुसार, विजय का श्रेय टामी को ही देना उचित और न्यायानुकूल जान पड़ता है। टामी ने उस अवसर पर कौशल से काम लिया, और दाँत निकाल दिए, जो संधि की याचना थी। किंतु तबसे उसने ऐसे सन्नीति-विहीन प्रतिद्वंद्वियों के मुँह लगना उचित न समझा।

इतना शांति-प्रिय होने पर भी टामी के शत्रुओं की संख्या दिनों दिन बढ़ती जाती थी। उसके बराबरवाले तो उससे इसलिये जलते कि वह इतना मोटा-ताजा होकर इतना भीरु क्यों

है। बाजारी दल इसलिये जलता कि टामी के मारे घूरों पर की हड्डियाँ भी न बचने पाती थीं। वह घड़ी-रात रहे उठता, और हलवाइयों की दूकानों के सामने के दोने और पत्तल, क़साईख़ाने के सामने की हड्डियाँ और छीछड़े चबा डालता। अतएव इतने शत्रुओं के बीच में रहकर टामी का जीवन संकटमय होता जाता था। महीनों बीत जाते, और पेट-भर भोजन न मिलता। दो-तीन बार उसे मनमाने भोजन करने की ऐसी प्रबल उत्कंठा हुई कि उसने संदिग्ध साधनों द्वारा उसे पूर्ण करने की चेष्टा की; पर जब परिणाम आशा के प्रतिकूल हुआ, और स्वादिष्ठ पदार्थों के बदले अरुचिकर, दुर्ग्राह्य वस्तुएँ भर-पेट खाने को मिलीं—जिससे पेट के बदले कई दिन तक पीठ में विषम वेदना होती रही—तो उसने विवश होकर फिर सन्मार्ग का आश्रय लिया। पर डंडों से पेट चाहे भर गया हो, वह उत्कंठा शांत न हुई। वह किसी ऐसी जगह जाना चाहता था, जहाँ खूब शिकार मिले; खरगोश, हिरन, भेड़ों के बच्चे मैदानों में विचर रहे हों, और उनका कोई मालिक न हो; जहाँ किसी प्रतिद्वंद्वी की गंध तक न हो; आराम करने को सघन वृक्षों की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल। वहाँ मनमाना शिकार करूँ, खाऊँ, और मीठी नींद सोऊँ। वहाँ चारो ओर मेरी धाक बैठ जाय; सब पर ऐसा रोब छा जाय कि मुझे ही अपना राजा समझने लगें, और धीरे-धीरे मेरा ऐसा सिक्का बैठ

जाय कि किसी द्वेषी को वहाँ पैर रखने का साहस ही न हो।

संयोग-वश एक दिन वह इन्हीं कल्पनाओं के सुख-स्वप्न देखता हुआ, सिर झुकाए, सड़क छोड़कर, गलियों से चला जा रहा था कि सहसा एक सज्जन से उसकी मुठभेड़ हो गई। टामी ने चाहा कि बचकर निकल जाऊँ; पर वह दुष्ट इतना शांति-प्रिय न था। उसने तुरंत झपटकर टामी का टेटुआ पकड़ लिया। टामी ने बहुत अनुनय-विनय की; गिड़गिड़ाकर कहा—"ईश्वर के लिये मुझे यहाँ से चले जाने दो; क़सम ले लो, जो इधर पैर रक्खूँ। मेरी शामत आई थी कि तुम्हारे अधिकार-क्षेत्र में चला आया।" पर उस मदांध और निर्दय प्राणी ने ज़रा भी रियायत न की। अंत में हारकर टामी ने गर्दभ-स्वर में फ़रियाद करनी शुरू की। यह कोलाहल सुनकर मोहल्ले के दो-चार नेता लोग एकत्र हो गए; पर उन्होंने भी दीन पर दया करने के बदले उलटे उसी पर दंत-प्रहार करना शुरू किया। इस अन्याय-पूर्ण व्यवहार ने टामी का दिल तोड़ दिया। वह जान छोड़कर भागा। उन अत्याचारी पशुओं ने बहुत दूर तक उसका पीछा किया; यहाँ तक कि मार्ग में एक नदी पड़ गई। टामी ने उसमें कूदकर अपनी जान बचाई।

कहते हैं, एक दिन सबके दिन फिरते हैं। टामी के दिन भी नदी में कूदते ही फिर गए। कूदा था जान बचाने के

लिये, हाथ लग गए मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, तो वहाँ उसकी चिर-संचित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रही थीं।

(२)

एक विस्तृत मैदान था। जहाँ तक निगाह जाती, हरियाली की छटा दिखाई देती। कहीं नालों का मधुर कलरव था, कहीं झरनों का मंद गान; कहीं वृक्षों के सुखद पुंज, कहीं रेत के सपाट मैदान। बड़ा सुरम्य, मनोहर दृश्य था।

यहाँ बड़े तेज़ नखोंवाले पशु थे, जिनकी सूरत देखकर टामी का कलेजा दहल उठता। उन्होंने टामी की कुछ परवा न की। वे आपस में नित्य लड़ा करते; नित्य ख़ून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयंकर जंतुओं से पेश न पा सकूँगा। उसने कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लड़नेवाले पशुओं में एक घायल और मुर्दा होकर गिर पड़ता, तो टामी लपककर मांस का कोई टुकड़ा ले भागता, और एकांत में बैठकर खाता। विजयी पशु विजय के उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता।

अब क्या था, टामी के पौ-बारह हो गए। सदा दिवाली रहने लगी। न गुड़ की कमी थी, न गेहूँ की। नित नए पदार्थ उड़ाता, और वृक्षों के नीचे आनंद से सोता। उसने ऐसे सुख-स्वर्ग की कल्पना भी न की थी। वह मरकर नहीं, जीते-जी स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों में पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा

ही कुछ और हो गई। उसका शरीर तेजस्वी और सुसंगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ़ करने लगा। जंगल के जंतु तब चौंके, और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगे। टामी ने एक नई चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता, तुम्हारा फ़लाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है; किसी से कहता, फ़लाँ तुम्हें गाली देता था। जंगल के जंतु उसके चकमे में आकर आपस में लड़ जाते, और टामी की चाँदी हो जाती। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जंतुओं का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओं को उससे मुक़ाबला करने का साहस न होता। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिये भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाज़ी के जौहर दिखाकर उनकी इस भ्रांति को पुष्ट किया करता। वह बड़े गर्व से कहता—"परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिये भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घरों में पड़े रहो, मैं तुमसे कुछ न बोलूँगा, केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कार-स्वरूप तुममें से एक-आध का शिकार कर लिया करूँगा। आख़िर मेरे भी तो पेट है; बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा, और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा?" वह अब बड़ी शान से जंगल में चारो ओर गौरवान्वित दृष्टि से ताकता हुआ विचरा करता।

टामी को अब कोई चिंता थी, तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते थे, और उसके सुख-भोग का चस्का बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसकी चिंता भी बढ़ती जाती थी। वह अब बहुधा रात को चौंक पड़ता, और किसी अज्ञात शत्रु के पीछे दौड़ता। अक्सर 'अंधा कूकुर बतासे भूँके'-वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करता; वन के पशुओं से कहता—"ईश्वर न करे, तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ; सदैव तुम्हारी शुभ कामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रक्खो।" पशु एक ही स्वर से कहते—"जब तक हम जिएँगे, आप ही के अधीन रहेंगे।"

आख़िरकार यह हुआ कि टामी को क्षण-भर भी शांति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन-भर नदी के किनारे इधर-से-उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता, बेदम हो जाता; मगर चित्त को शांति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आए।

लेकिन क्वार का महीना आया, तो टामी का चित्त एक बार फिर अपने पुराने सहचरों से मिलने के लिये लालायित होने लगा। वह अपने मन को किसी भाँति रोक न सका। उसे वह दिन याद आया, जब वह दो-चार मित्रों के साथ किसी प्रेमिका के पीछे गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाता

था। दो-चार दिन उसने सब्र किया, पर अंत में आवेग इतना प्रबल हुआ कि वह तक़दीर ठोककर खड़ा हो गया। उसे अब अपने तेज और बल पर अभिमान भी था। दो-चार को तो वह अकेले मज़ा चखा सकता था।

किंतु नदी के इस पार आते ही उसका आत्मविश्वास प्रातः-काल के तम के समान फटने लगा। उसकी चाल मंद पड़ गई, सिर आप-ही-आप झुक गया, दुम सिकुड़ गई। मगर एक प्रेमिका को आते देखकर वह विह्वल हो उठा; उसके पीछे हो लिया। प्रेमिका को उसकी वह कुचेष्टा अप्रिय लगी। उसने तीव्र स्वर से उसकी अवहेलना की। उसकी आवाज़ सुनते ही उसके कई प्रेमी आ पहुँचे, और टामी को वहाँ देखते ही जामे से बाहर हो गए। टामी सिटपिटा गया। अभी निश्चय न कर सका था कि क्या करूँ कि चारों ओर से उस पर दाँतों और नखों की वर्षा होने लगी। भागते भी न बन पड़ा। देह लहू-लुहान हो गई। भागा भी, तो शैतानों का एक दल पीछे था।

उस दिन से उसके दिल में शंका-सी समा गई। हर घड़ी यह भय लगा रहता कि आक्रमणकारियों का दल मेरे सुख और शांति में बाधा डालने के लिये, मेरे स्वर्ग को विध्वंस करने के लिये, आ रहा है। यह शंका पहले भी कम न थी; अब और भी बढ़ गई।

एक दिन उसका चित्त भय से इतना व्याकुल हुआ कि उसे

जान पड़ा, शत्रु-दल आ पहुँचा। वह बड़े वेग से नदी के किनारे आया, और इधर-से-उधर दौड़ने लगा।

दिन बीत गया, रात बीत गई; पर उसने विश्राम न लिया। दूसरा दिन आया और गया; पर टामी निराहार-निर्जल, नदी के किनारे, चक्कर लगाता रहा।

इस तरह पाँच दिन बीत गए। टामी के पैर लड़खड़ाने लगे, आँखों-तले अँधेरा छाने लगा। क्षुधा से व्याकुल होकर गिर-गिर पड़ता, पर वह शंका किसी भाँति शांत न होती।

अंत में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिंता से ग्रस्त, जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की; किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाए। कई दिनों तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे; अंत में अस्थि-पंजरों के सिवा और कुछ न रह गया।

गृह-दाह

(१)

सत्यप्रकाश के जन्मोत्सव में लाला देवप्रकाश ने बहुत रुपए ख़र्च किए थे। उसका विद्यारंभ-संस्कार भी ख़ूब धूम-धाम से किया गया। उसके हवा खाने को एक छोटी-सी गाड़ी थी। शाम को नौकर उसे टहलाने ले जाता। एक नौकर उसे पाठशाला पहुँचाने जाता, दिन-भर वहीं बैठा रहता और उसे साथ लेकर घर आता था। कितना सुशील, होनहार बालक था! गोरा मुखड़ा, बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा मस्तक, पतले-पतले लाल अधर, भरे हुए हाथ-पाँव। उसे देखकर सहसा मुँह से निकल पड़ता था—भगवान् इसे जिला दे, प्रतापी मनुष्य होगा। उसकी बाल-बुद्धि की प्रखरता पर लोगों को आश्चर्य होता था। नित्य उसके मुख-चंद्र पर हँसी खेलती रहती थी। किसी ने उसे हठ करते या रोते नहीं देखा।

वर्षा के दिन थे। देवप्रकाश बहन को लेकर गंगा-स्नान करने गए। नदी ख़ूब चढ़ी हुई थी, मानो अनाथ की आँखें हों। उसकी पत्नी निर्मला जल में बैठकर क्रीड़ा करने लगी। कभी आगे जाती, कभी पीछे जाती, कभी डुबकी मारती, कभी अंजुलियों से छींटें उड़ाती। देवप्रकाश ने कहा—

"अच्छा, अब निकलो, नहीं तो सरदी हो जायगी।" निर्मला ने कहा—"कहो, तो मैं छाती तक पानी में चली जाऊँ ?"

देवप्रकाश—"और, जो कहीं पैर फिसल जाय !"

निर्मला—"पैर क्या फिसलेगा !"

यह कहकर वह छाती तक पानी में चली गई। पति ने कहा—"अच्छा, अब आगे पैर न रखना।" किंतु निर्मला के सिर पर मौत खेल रही थी। यह जल-क्रीड़ा नहीं, मृत्यु-क्रीड़ा थी। उसने एक पग और आगे बढ़ाया, और फिसल गई। मुँह से एक चीख निकली; दोनो हाथ सहारे के लिये ऊपर उठे, और फिर जल-मग्न हो गए। एक पल में प्यासी नदी उसे पी गई। देवप्रकाश खड़े तौलिए से देह पोंछ रहे थे। तुरंत पानी में कूदे, साथ का कहार भी कूदा। दो मल्लाह भी कूद पड़े। सबने डुबकियाँ मारीं, टटोला; पर निर्मला का पता न चला। तब डोंगी मँगवाई गई। मल्लाहों ने बार-बार ग़ोते मारे, पर लाश हाथ न आई। देवप्रकाश शोक में डूबे हुए घर आए। सत्यप्रकाश किसी उपहार की आशा में दौड़ा। पिता ने गोद में उठा लिया, और बड़े यत्न करने पर भी अपनी सिसकी न रोक सके। सत्यप्रकाश ने पूछा—"अम्मा कहाँ हैं ?"

देव०—"बेटा, गंगा ने उन्हें नेवता खाने के लिये रोक लिया।"

सत्यप्रकाश ने उनके मुख की ओर जिज्ञासा-भाव से

देखा, और आशय समझ गया। 'अम्मा, अम्मा' कहकर रोने लगा।

(२)

मातृहीन बालक संसार का सबसे करुणाजनक प्राणी है। दीन-से-दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को सँभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आधार से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एकमात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंख-हीन पक्षी है।

सत्यप्रकाश को एकांत से प्रेम हो गया। अकेले बैठा रहता। वृक्षों में उसे उस सहानुभूति का कुछ-कुछ अज्ञात अनुभव होता था, जो घर के प्राणियों में उसे न मिलती थी। माता का प्रेम था, तो सभी प्रेम करते थे; माता का प्रेम उठ गया, तो सभी निष्ठुर हो गए। पिता की आँखों में भी वह प्रेम-ज्योति न रही। दरिद्र को कौन भिक्षा देता है?

छ महीने बीत गए। सहसा एक दिन उसे मालूम हुआ, मेरी नई माता आनेवाली है। दौड़ा पिता के पास गया, और पूछा—"क्या मेरी नई माता आवेंगी?" पिता ने कहा—"हाँ, बेटा, वह आकर तुम्हें प्यार करेंगी।"

सत्य०—"क्या मेरी मा स्वर्ग से आ जायँगी?"

देव०—"हाँ, वही आ जायँगी।"

सत्य०—"मुझे उसी तरह प्यार करेंगी?"

देवप्रकाश इसका क्या उत्तर देते ? मगर सत्यप्रकाश उस दिन से प्रसन्न-मन रहने लगा। अम्मा आवेंगी ! मुझे गोद में लेकर प्यार करेंगी ! अब मैं उन्हें कभी दिक़ न करूँगा, कभी ज़िद न करूँगा, अच्छी-अच्छी कहानियाँ सुनाया करूँगा।

विवाह के दिन आए। घर में तैयारियाँ होने लगीं। सत्य-प्रकाश ख़ुशी से फूला न समाता। मेरी नई अम्मा आवेंगी। बरात में वह भी गया। नए-नए कपड़े मिले। पालकी पर बैठा। नानी ने अंदर बुलाया, और उसे गोद में लेकर एक अशरफ़ी दी। वहीं उसे नई माता के दर्शन हुए। नानी ने नई माता से कहा—"बेटी, कैसा सुंदर बालक है ! इसे प्यार करना।"

सत्यप्रकाश ने नई माता को देखा, और मुग्ध हो गया। बच्चे भी रूप के उपासक होते हैं। एक लावण्यमयी मूर्ति आभूषणों से लदी सामने खड़ी थी। उसने दोनो हाथों से उसका आँचल पकड़कर कहा—"अम्मा !"

कितना अरुचिकर शब्द था, कितना लज्जायुक्त, कितना अप्रिय ! वह ललना, जो 'देवप्रिया' नाम से संबोधित होती थी, उत्तरदायित्व, त्याग और क्षमा का संबोधन न सह सकी। अभी वह प्रेम और विलास का सुख-स्वप्न देख रही थी—यौवनकाल की मदमय वायु-तरंगों में आंदोलित हो रही थी। इस शब्द ने उसके स्वप्न को भंग कर दिया। कुछ रुष्ट होकर बोली—"मुझे अम्मा मत कहो।"

सत्यप्रकाश ने विस्मित नेत्रों से देखा, उसका बाल-स्वप्न भंग हो गया। आँखें डबडबा गईं। नानी ने कहा—"बेटी, देखो, लड़के का दिल छोटा हो गया। वह क्या जाने, क्या कहना चाहिए। अम्मा कह दिया, तो तुम्हें कौन-सी चोट लग गई।"

देवप्रिया ने कहा—"मुझे अम्मा न कहे।"

(३)

सौत का पुत्र विमाता की आँखों में क्यों इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पंडित ने नहीं किया। हम किस गिनती में हैं। देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनाती; किंतु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसव-काल ज्यों-ज्यों निकट आता था, उसकी कठोरता बढ़ती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद में एक चाँद-से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश खूब उछला-कूदा, और सौर-गृह में दौड़ा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद में सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बड़ी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा कि सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर में कहा—"खबरदार, इसे मत छूना, नहीं तो कान पकड़कर उखाड़ लूँगी।"

बालक उलटे पाँव लौट आया, और कोठे की छत पर जाकर खूब रोया। कितना सुंदर बच्चा है! मैं उसे गोद में

लेकर बैठता, तो कैसा मज़ा आता ! मैं उसे गिराता थोड़े ही, फिर इन्होंने मुझे झिड़क क्यों दिया ? भोला बालक क्या जानता था कि इस झिड़की का कारण माता की सावधानी नहीं, कुछ और है।

शिशु का नाम ज्ञानप्रकाश रक्खा गया था। एक दिन वह सो रहा था। देवप्रिया स्नानागार में थी। सत्यप्रकाश चुपके से आया, और बच्चे का ओढ़ना हटाकर उसे अनुरागमय नेत्रों से देखने लगा। उसका जी कितना चाहा कि उसे गोद में लेकर प्यार करूँ; पर डर के मारे उसने उसे उठाया नहीं, केवल उसके कपोलों को चूमने लगा। इतने में देवप्रिया निकल आई। सत्यप्रकाश को बच्चे को चूमते देखकर आग हो गई। दूर ही से डाँटा—"हट जा वहाँ से !"

सत्यप्रकाश दीन नेत्रों से माता को देखता हुआ बाहर निकल आया।

संध्या-समय उसके पिता ने पूछा—"तुम लल्ला को क्यों रुलाया करते हो ?"

सत्य०—"मैं तो उसे कभी नहीं रुलाता। अम्मा खेलाने को नहीं देतीं।"

देव०—"झूठ बोलते हो, आज तुमने बच्चे को चुटकी काटी।"

सत्य०—"जी नहीं, मैं तो उसकी मुच्छियाँ ले रहा था।"

देव०—"झूठ बोलता है !"

सत्य०—"मैं झूठ नहीं बोलता।"

देवप्रकाश को क्रोध आ गया। लड़के को दो-तीन तमाचे लगाए। पहली बार यह ताड़ना मिली, और निरपराध! इसने उसके जीवन की काया-पलट कर दी।

(४)

उस दिन से सत्यप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन दिखाई देने लगा। वह घर में बहुत कम आता; पिता आते, तो उनसे मुँह छिपाता फिरता। कोई खाना खाने को बुलाने आता, तो चोरों की भाँति दबकता हुआ जाकर खा लेता; न कुछ माँगता, न कुछ बोलता। पहले अत्यंत कुशाग्र-बुद्धि था। उसकी सफ़ाई, सलीक़े और फ़ुरती पर लोग मुग्ध हो जाते थे। अब वह पढ़ने से जी चुराता, मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता। घर में कोई प्रेम करनेवाला न था! बाज़ार के लड़कों के साथ गली-गली घूमता, कनकौवे लूटता। गालियाँ बकना भी सीख गया। शरीर दुर्बल हो गया। चेहरे की कांति ग़ायब हो गई। देवप्रकाश को अब आए दिन उसकी शरारतों के उलहने मिलने लगे, और सत्यप्रकाश नित्य घुड़कियाँ और तमाचे खाने लगा, यहाँ तक कि अगर वह कभी घर में किसी काम से चला जाता, तो सब लोग दूर-दूर कहकर दौड़ते।

ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये मास्टर आता था। देव-प्रकाश उसे रोज़ सैर कराने साथ ले जाते। हँसमुख लड़का

था। देवप्रिया उसे सत्यप्रकाश के साए से भी बचाती रहती थी। दोनो लड़कों में कितना अंतर था! एक साफ़-सुथरा, सुंदर कपड़े पहने, शील और विनय का पुतला, सच बोलने-वाला; देखनेवालों के मुँह से अनायास ही दुआ निकल आती थी। दूसरा मैला, नटखट, चोरों की तरह मुँह छिपाए हुए, मुँहफट, बात-बात पर गालियाँ बकनेवाला। एक हरा-भरा पौधा, प्रेम में सावित, स्नेह से सिंचित; दूसरा सूखा हुआ, टेढ़ा, पल्लव-हीन नव-वृक्ष, जिसकी जड़ों को एक मुद्दत से पानी नहीं नसीब हुआ। एक को देखकर पिता की छाती ठंडी होती; दूसरे को देखकर देह में आग लग जाती।

आश्चर्य यह था कि सत्यप्रकाश को अपने छोटे भाई से लेश-मात्र भी ईर्ष्या न थी। अगर उसके हृदय में कोई कोमल भाव शेष रह गया था, तो वह ज्ञानप्रकाश के प्रति स्नेह था। उस मरुभूमि में यही एक हरियाली थी। ईर्ष्या साम्य-भाव की द्योतक है। सत्यप्रकाश अपने भाई को अपने से कहीं ऊँचा, कहीं भाग्यशाली समझता। उसमें ईर्ष्या का भाव ही लोप हो गया था।

घृणा से घृणा उत्पन्न होती है; प्रेम से प्रेम। ज्ञानप्रकाश भी बड़े भाई को चाहता था। कभी-कभी उसका पक्ष लेकर अपनी मा से वाद-विवाद कर बैठता। कहता—"भैया की अचकन फट गई है, आप नई अचकन क्यों नहीं बनवा देतीं?" मा उत्तर देती—"उसके लिये वही अचकन अच्छी

है। अभी क्या, अभी तो वह नंगा फिरेगा।" ज्ञानप्रकाश बहुत चाहता था कि अपने जेब-खर्च से बचाकर कुछ अपने भाई को दे, पर सत्यप्रकाश कभी इसे स्वीकार न करता। वास्तव में जितनी देर वह छोटे भाई के साथ रहता, उतनी देर उसे एक शांतिमय आनंद का अनुभव होता। थोड़ी देर के लिये वह सद्भावों के साम्राज्य में विचरने लगता। उसके मुख से कोई भद्दी और अप्रिय बात न निकलती। एक क्षण के लिये उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठती।

एक बार कई दिन तक सत्यप्रकाश मदरसे न गया। पिता ने पूछा—"तुम आजकल पढ़ने क्यों नहीं जाते? क्या सोच रक्खा है कि मैंने तुम्हारी जिंदगी-भर का ठेका ले रक्खा है।"

सत्य०—मेरे ऊपर जुर्माने और फ़ीस के कई रुपए हो गए हैं। जाता हूँ, तो दर्जे से निकाल दिया जाता हूँ।"

देव०—"फ़ीस क्यों बाक़ी है? तुम तो महीने-महीने ले लिया करते हो न?"

सत्य०—"आए दिन चंदे लगा करते हैं। फ़ीस के रुपए चंदे में दे दिए।"

देव०—"और जुर्माना क्यों हुआ?"

सत्य०—"फ़ीस न देने के कारण।"

देव०—"तुमने चंदा क्यों दिया?"

सत्य०—"ज्ञानू ने चंदा दिया, तो मैंने भी दिया।"

देव०—"तुम ज्ञानू से जलते हो?"

सत्य०—मैं ज्ञानू से क्यों जलने लगा। यहाँ हम और वह दो हैं; बाहर हम और वह एक समझे जाते हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे पास कुछ नहीं है।"

देव०—"क्यों, यह कहते शर्म आती है?"

सत्य०—"जी हाँ, आपकी बदनामी होगी।"

देव०—"अच्छा, तो आप मेरी मान-रक्षा करते हैं! यह क्यों नहीं कहते कि पढ़ना अब मंजूर नहीं। मेरे पास इतना रुपया नहीं कि तुम्हें एक-एक क्लास में तीन-तीन साल पढ़ाऊँ; ऊपर से तुम्हारे खर्च के लिये भी प्रतिमास कुछ दूँ। ज्ञान बाबू तुमसे कितना छोटा है, लेकिन तुमसे एक ही दफ़ा नीचे है। तुम इस साल ज़रूर ही फ़ेल होओगे; वह ज़रूर ही पास होगा। अगले साल तुम्हारे साथ हो जायगा। तब तो तुम्हारे मुँह में कालिख लगेगी न।"

सत्य०—"विद्या मेरे भाग्य ही में नहीं है।"

देव०—"तुम्हारे भाग्य में क्या है?"

सत्य०—"भीख माँगना।"

देव०—"तो फिर भीख ही माँगो। मेरे घर से निकल जाओ।"

देवप्रिया भी आ गई। बोली—"शरमाता तो नहीं, और बातों का जवाब देता है।"

सत्य०—"जिनके भाग्य में भीख माँगना होता है, वे ही बचपन में अनाथ हो जाते हैं।"

देवप्रिया—"ये जली-कटी बातें अब मुझसे न सही जायँगी। मैं ख़ून का घूँट पी-पीकर रह जाती हूँ।"

देवप्रकाश—"बेहया है। कल से इसका नाम कटवा दूँगा। भीख माँगनी है, तो भीख ही माँगो।"

(५)

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने घर से निकलने की तैयारी कर दी। उसकी उम्र अब १६ साल की हो गई थी। इतनी बातें सुनने के बाद उसे उस घर में रहना असह्य हो गया था। जब तक हाथ-पाँव न थे, किशोरावस्था की असमर्थता थी, तब तक अवहेलना, निरादर, निठुरता, भर्त्सना, सब कुछ सहकर घर में रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गए थे, उस बंधन में क्यों रहता! आत्माभिमान, आशा की भाँति, चिरजीवी होता है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। घर के सब प्राणी सो रहे थे। सत्यप्रकाश ने अपनी धोती बग़ल में दबाई, एक छोटा-सा बैग हाथ में लिया, और चाहता था कि चुपके से बैठक से निकल जाय कि ज्ञानू आ गया, और उसे जाने को तैयार देखकर बोला—"कहाँ जाते हो, भैया?"

सत्य०—"जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।"

ज्ञान०—"मैं जाकर अम्मा से कहे देता हूँ।"

सत्य०—"तो फिर मैं तुमसे भी छिपाकर चला जाऊँगा।"

ज्ञान०—"क्यों चले जाओगे? तुम्हें मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं?"

सत्यप्रकाश ने भाई को गले लगाकर कहा—"तुम्हें छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता, लेकिन जहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है, वहाँ पड़े रहना बेहयाई है। कहीं दस-पाँच की नौकरी कर लूँगा, और पेट पालता रहूँगा; और किस लायक़ हूँ?"

ज्ञान०—"तुमसे अम्मा क्यों इतना चिढ़ती हैं? मुझे तुमसे मिलने को मना किया करती हैं।"

सत्य०—"मेरे नसीब खोटे हैं, और क्या।"

ज्ञान०—"तुम लिखने-पढ़ने में जी नहीं लगाते?"

सत्य०—"लगता ही नहीं, कैसे लगाऊँ? जब कोई परवा नहीं करता, तो मैं भी सोचता हूँ, ऊँह, यही न होगा, ठोकर खाऊँगा। बला से!"

ज्ञान०—"मुझे भूल तो न जाओगे? मैं तुम्हारे पास ख़त लिखा करूँगा। मुझे भी एक बार अपने यहाँ बुलाना।"

सत्य०—"तुम्हारे स्कूल के पते से चिट्ठी लिखूँगा।"

ज्ञान०—[रोते-रोते] "मुझे न-जाने क्यों तुम्हारी बड़ी मुहब्बत लगती है।"

सत्य०—"मैं तुम्हें सदैव याद रक्खूँगा।"

यह कहकर उसने फिर भाई को गले से लगाया, और घर से निकल पड़ा। पास एक कौड़ी भी न थी, और वह कलकत्ते जा रहा था।

(६)

सत्यप्रकाश कलकत्ते क्योंकर पहुँचा, इसका वृत्तांत लिखना

व्यर्थ है। युवकों में दुस्साहस की मात्रा अधिक होती है। वे हवा में क़िले बना सकते हैं—धरती पर नाव चला सकते हैं। कठिनाइयों की उन्हें कुछ परवा नहीं होती। अपने ऊपर असीम विश्वास होता है। कलकत्ते पहुँचना ऐसा कष्ट-साध्य न था। सत्यप्रकाश चतुर युवक था। पहले ही उसने निश्चय कर लिया था कि कलकत्ते में क्या करूँगा, कहाँ रहूँगा। उसके बैग में लिखने की सामग्री मौजूद थी। बड़े शहरों में जीविका का प्रश्न कठिन भी है, और सरल भी। सरल है उनके लिये, जो हाथ से काम कर सकते हैं; कठिन है उनके लिये, जो क़लम से काम करते हैं। सत्यप्रकाश मज़दूरी करना नीच समझता था। उसने एक धर्मशाला में असबाब रक्खा। बाद में शहर के मुख्य-मुख्य स्थानों का निरीक्षण कर एक डाकघर के सामने लिखने का सामान लेकर बैठ गया, और अपढ़ मज़दूरों की चिट्ठियाँ, मनीऑर्डर आदि लिखने का व्यवसाय करने लगा। पहले कई दिन तो उसे इतने पैसे भी न मिले कि भर पेट भोजन करता, लेकिन धीरे-धीरे आमदनी बढ़ने लगी। वह मज़दूरों से इतने विनय के साथ बातें करता और उनके समाचार इतने विस्तार से लिखता कि बस, वे पत्र को सुनकर बहुत प्रसन्न होते। अशिक्षित लोग एक ही बात को दो-दो, तीन-तीन बार लिखाते हैं। उनकी दशा ठीक रोगियों की-सी होती है, जो वैद्य से अपनी व्यथा और वेदना का वृत्तांत कहते नहीं थकते। सत्यप्रकाश सूत्र को व्याख्या का

रूप देकर मजदूरों को मुग्ध कर देता था। एक संतुष्ट होकर जाता, तो अपने कई अन्य भाइयों को खोज लाता। एक ही महीने में उसे १) रोज मिलने लगा। उसने धर्मशाला से निकलकर शहर से बाहर ५) महीने पर एक छोटी-सी कोठरी ले ली। एक जून बनाता, दोनो जून खाता। बर्तन अपने हाथों से धोता। जमीन पर सोता। उसे अपने निर्वासन पर जरा भी खेद और दुःख न था। घर के लोगों की कभी याद न आती। वह अपनी दशा पर संतुष्ट था। केवल ज्ञानप्रकाश की प्रेम-युक्त बातें न भूलतीं। अंधकार में यही एक प्रकाश था। विदाई का अंतिम दृश्य आँखों के सामने फिरा करता। जीविका से निश्चिंत होकर उसने ज्ञानप्रकाश को एक पत्र लिखा। उत्तर आया। उसके आनंद की सीमा न रही। ज्ञानू मुझे याद करके रोता है, मेरे पास आना चाहता है, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है। प्यासे को पानी से जो तृप्ति होती है, वही तृप्ति इस पत्र से सत्यप्रकाश को हुई। मैं अकेला नहीं हूँ, कोई मुझे भी चाहता है—"मुझे भी याद करता है !"

उस दिन से सत्यप्रकाश को यह चिंता हुई कि ज्ञानू के लिये कोई उपहार भेजूँ। युवकों को मित्र बहुत जल्द मिल जाते हैं। सत्यप्रकाश की भी कई युवकों से मित्रता हो गई थी। उनके साथ कई बार सिनेमा देखने गया। कई बार बूटी-भंग, शराब-कबाब की भी ठहरी। आईना, तेल, कंघी का शौक़ भी पैदा हुआ। जो कुछ पाता, उड़ा देता ; बड़े वेग से

नैतिक पतन और शारीरिक विनाश की ओर दौड़ा चला जाता था। इस प्रेम-पत्र ने उसके पैर पकड़ लिए। उपहार के प्रयास ने इन दुर्व्यसनों को तिरोहित करना शुरू किया। सिनेमा का चस्का छूटा। मित्रों को हीले-हवाले करके टालने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा करने लगा। धन-संचय की चिंता ने सारी इच्छाओं को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि एक अच्छी-सी घड़ी भेजूँ। उसका दाम कम-से-कम ४०) होगा। अगर तीन महीने तक एक कौड़ी का भी अपव्यय न करूँ, तो घड़ी मिल सकती है। ज्ञानू घड़ी देखकर कैसा खुश होगा। अम्मा और बाबूजी भी देखेंगे। उन्हें मालूम हो जायगा कि मैं भूखों नहीं मर रहा हूँ। किफ़ायत की धुन में वह बहुधा दिया-बत्ती भी न करता। बड़े सबेरे काम करने चला जाता, और सारे दिन दो-चार पैसे की मिठाई खाकर काम करता रहता। उसके ग्राहकों की संख्या दिन-दूनी होती जाती थी। चिट्ठी-पत्री के अतिरिक्त अब उसने तार लिखने का भी अभ्यास कर लिया था। दो ही महीनों में उसके पास ५०) एकत्र हो गए; और जब घड़ी के साथ सुनहरी चेन का पारसल बनाकर ज्ञानू के नाम भेज दिया, तो उसका चित्त इतना उत्साहित था, मानो किसी निस्संतान के बालक हुआ हो।

(७)

'घर' कितनी ही कोमल, पवित्र, मनोहर स्मृतियों को जाग्रत्

कर देता है ! यह प्रेम का निवास-स्थान है। प्रेम ने बहुत तपस्या करके यह वरदान पाया है।

किशोरावस्था में 'घर' माता-पिता, भाई-बहन, सखी-सहेली के प्रेम की याद दिलाता है; प्रौढ़ावस्था में गृहिणी और बाल-बच्चों के प्रेम की। यही वह लहर है, जो मानव-जीवन-मात्र को स्थिर रखती है, उसे समुद्र की वेगवती लहरों में बहने और चट्टानों से टकराने से बचाती है। यही वह मंडप है, जो जीवन को समस्त विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रखता है।

सत्यप्रकाश का 'घर' कहाँ था ? वह कौन-सी शक्ति थी, जो कलकत्ते के विराट् प्रलोभनों से उसकी रक्षा करती थी ? माता का प्रेम, पिता का स्नेह, बाल-बच्चों की चिंता ? नहीं, उसका रक्षक, उद्धारक, उसका परितोषक केवल ज्ञानप्रकाश का स्नेह था। उसी के निमित्त वह एक-एक पैसे की किफ़ायत करता। उसी के लिये वह कठिन परिश्रम करता—धनोपार्जन के नए-नए उपाय सोचता। उसे ज्ञानप्रकाश के पत्रों से मालूम हुआ था कि इन दिनों देवप्रकाश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। वह एक घर बनवा रहे हैं, जिसमें व्यय अनुमान से अधिक हो जाने के कारण ऋण लेना पड़ा है ; इसलिये अब ज्ञानप्रकाश को पढ़ाने के लिये घर पर मास्टर नहीं आता। तब से सत्यप्रकाश प्रतिमास ज्ञानू के पास कुछ-न-कुछ अवश्य भेज देता था। वह अब केवल पत्र-लेखक न था, लिखने के सामान की एक छोटी-सी दूकान भी उसने खोल ली थी। इससे

अच्छी आमदनी हो जाती थी। इस तरह पाँच वर्ष बीत गए। रसिक मित्रों ने जब देखा, अब यह हत्थे नहीं चढ़ता, तो उसके पास आना-जाना छोड़ दिया।

(८)

संध्या का समय था। देवप्रकाश अपने मकान में बैठे देवप्रिया से ज्ञानप्रकाश के विवाह के संबंध में बातें कर रहे थे। ज्ञानू अब १७ वर्ष का सुंदर युवक था। बाल-विवाह के विरोधी होने पर भी देवप्रकाश अब इस शुभ मुहूर्त को न टाल सकते थे, विशेषतः जब कोई महाशय ५,०००) दायज देने को प्रस्तुत हों।

देवप्रकाश—"मैं तो तैयार हूँ, लेकिन तुम्हारा लड़का भी तो तैयार हो।"

देवप्रिया—"तुम बातचीत पक्की कर लो, वह तैयार हो ही जायगा। सभी लड़के पहले 'नहीं' करते हैं।"

देवप्रकाश—"ज्ञानू का इनकार केवल संकोच का इनकार नहीं है, वह सिद्धांत का इनकार है। वह साफ़-साफ़ कह रहा है कि जब तक भैया का विवाह न होगा, मैं अपना विवाह करने पर राज़ी नहीं हूँ।"

देवप्रिया—"उसकी कौन चलाए, वहाँ कोई रखैल रख ली होगी, विवाह क्यों करेगा ? वहाँ कोई देखने जाता है ?"

देवप्रकाश—[झुँझलाकर] "रखैल रख ली होती, तो तुम्हारे लड़के को ४०) महीने न भेजता, और न वे चीज़ें ही देता,

जिन्हें पहले महीने से अब तक बराबर देता चला आता है। न-जाने क्यों तुम्हारा मन उसकी ओर से इतना मैला हो गया है ! चाहे वह जान निकालकर भी दे दे, लेकिन तुम न पसीजोगी।"

देवप्रिया नाराज़ होकर चली गई। देवप्रकाश उससे यही कहलाया चाहते थे कि पहले सत्यप्रकाश का विवाह करना उचित है, किंतु वह कभी इस प्रसंग को आने ही न देती थी। स्वयं देवप्रकाश की यह हार्दिक इच्छा थी कि पहले बड़े लड़के का विवाह करें, पर उन्होंने भी आज तक सत्यप्रकाश को कोई पत्र न लिखा था। देवप्रिया के चले जाने के बाद उन्होंने आज पहली बार सत्यप्रकाश को पत्र लिखा। पहले इतने दिनों तक चुपचाप रहने के लिये क्षमा माँगी, तब उसे एक बार घर आने का प्रेमाग्रह किया। लिखा—"अब मैं कुछ ही दिनों का मेहमान हूँ। मेरी अभिलाषा है, तुम्हारा और तुम्हारे छोटे भाई का विवाह देख लूँ। मुझे बहुत दुःख होगा, यदि तुम यह विनय स्वीकार न करोगे।" ज्ञानप्रकाश के असमंजस की बात भी लिखी। अंत में इस बात पर ज़ोर दिया कि किसी और विचार से नहीं, तो ज्ञानू के प्रेम के नाते ही तुम्हें इस बंधन में पड़ना होगा।

सत्यप्रकाश को यह पत्र मिला, तो उसे बहुत खेद हुआ। मेरे भ्रातृस्नेह का यह परिणाम होगा, मुझे न मालूम था। इसके साथ ही उसे यह ईर्ष्यामय आनंद हुआ कि अम्मा

और दादा को अब तो कुछ मानसिक पीड़ा होगी। मेरी उन्हें क्या चिंता थी? मैं मर भी जाऊँ, तो भी उनकी आँखों में आँसू न आवें। ७ वर्ष हो गए, कभी भूलकर भी पत्र न लिखा कि मरा है, या जीता है। अब कुछ चेतावनी मिलेगी। ज्ञानप्रकाश अंत में विवाह करने पर राजी तो हो ही जायगा, लेकिन सहज में नहीं। कुछ न हो, तो मुझे तो एक बार अपने इनकार के कारण लिखने का अवसर मिला। ज्ञानू को मुझसे प्रेम है, लेकिन उसके कारण मैं पारि-वारिक अन्याय का दोषी न बनूँगा। हमारा पारिवारिक जीवन संपूर्णतः अन्यायमय है। यह कुमति और वैमनस्य, क्रूरता और नृशंसता का बीजारोपण करता है। इसी माया में फँसकर मनुष्य अपनी प्यारी संतान का शत्रु हो जाता है। ना, मैं आँखों देखकर यह मक्खी न निगलूँगा। मैं ज्ञानू को समझाऊँगा अवश्य। मेरे पास जो कुछ जमा है, वह सब उसके विवाह के निमित्त अर्पण भी कर दूँगा। बस, इससे ज्यादा मैं और कुछ नहीं कर सकता। अगर ज्ञानू भी अवि-वाहित ही रहे, तो संसार कौन सूना हो जायगा? ऐसे पिता का पुत्र क्या वंश-परंपरा का पालन न करेगा? क्या उसके जीवन में फिर वही अभिनय न दुहराया जायगा, जिसने मेरा सर्वनाश कर दिया?

दूसरे दिन सत्यप्रकाश ने ५००) पिता के पास भेजे, और पत्र का उत्तर लिखा—"मेरा अहोभाग्य, जो आपने मुझे याद

किया। ज्ञानू का विवाह निश्चित्त हो गया, इसकी बधाई! इन रुपयों से नव-वधू के लिये कोई आभूषण बनवा दीजिएगा। रही मेरे विवाह की बात। सो मैंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा और मेरे सिर पर जो कुछ बीती है, उस पर ध्यान देते हुए यदि मैं कुटुंब-पाश में फँसूँ, तो मुझसे बड़ा उल्लू संसार में न होगा। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। विवाह की चर्चा ही से मेरे हृदय को आघात पहुँचता है।"

दूसरा पत्र ज्ञानप्रकाश को लिखा—"माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य करो। मैं अपढ़, मूर्ख, बुद्धि-हीन आदमी हूँ; मुझे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं है। खेद है, मैं तुम्हारे विवाह के शुभोत्सव में सम्मिलित न हो सकूँगा, लेकिन मेरे लिये इससे बढ़कर आनंद और संतोष का विषय नहीं हो सकता।"

(६)

देवप्रकाश यह पढ़कर अवाक रह गए। फिर आग्रह करने का साहस न हुआ। देवप्रिया ने नाक सिकोड़कर कहा—"यह लौंडा देखने ही को सीधा है; है जहर का बुझाया हुआ! सौ कोस पर बैठा हुआ बर्छियों से कैसा छेद रहा है।"

किंतु ज्ञानप्रकाश ने यह पत्र पढ़ा, तो उसे मर्माघात पहुँचा। दादा और अम्मा के अन्याय ने ही उन्हें यह भीषण व्रत धारण करने पर बाध्य किया है। इन्हीं ने उन्हें निर्वासित किया है, और शायद सदा के लिये। न-जाने अम्मा को उनसे क्यों

इतनी जलन हुई। मुझे तो अब याद आता है कि किशोरावस्था ही से वह बड़े आज्ञाकारी, विनयशील और गंभीर थे। उन्हें अम्मा की बातों का जवाब देते नहीं सुना। मैं अच्छे से-अच्छा खाता था, फिर भी उनके तेवर मैले न हुए, हालाँकि उन्हें जलना चाहिए था। ऐसी दशा में अगर उन्हें गार्हस्थ्य जीवन से घृणा हो गई, तो आश्चर्य ही क्या? फिर मैं क्यों इस विपत्ति में फँसूँ? कौन जाने, मुझे भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़े। भैया ने बहुत सोच-समझकर यह धारणा की है।

संध्या-समय जब उसके माता पिता बैठे हुए इसी समस्या पर विचार कर रहे थे, ज्ञानप्रकाश ने आकर कहा—"मैं कल भैया से मिलने जाऊँगा।"

देवप्रिया—"क्या कलकत्ते जाओगे?"

ज्ञान०—"जी हाँ।"

देवप्रिया—"उन्हीं को क्यों नहीं बुलाते?"

ज्ञान०—"उन्हें कौन मुँह लेकर बुलाऊँ? आप लोगों ने तो पहले ही मेरे मुँह में कालिख लगा दी है। ऐसा देव-पुरुष आप लोगों के कारण विदेश में ठोकर खा रहा है, और मैं इतना निर्लज्ज हो जाऊँ कि......"

देवप्रिया—"अच्छा, चुप रह, नहीं ब्याह करना है, न कर, जले पर लोन मत छिड़क! माता-पिता का धर्म है, इसलिये कहती हूँ नहीं तो यहाँ ठेंगे का परवा नहीं है। तू

चाहे ब्याह कर, चाहे क्वाँरा रह; पर मेरी आँखों से दूर हो जा।"

ज्ञान०—"क्या मेरी सूरत से भी घृणा हो गई?"

देवप्रिया—"जब तू हमारे कहने ही में नहीं, तो जहाँ चाहे रह। हम भी समझ लेंगे कि भगवान् ने लड़का ही नहीं दिया।"

देव०—"क्यों व्यर्थ ऐसे कटु वचन बोलती हो?"

ज्ञान०—"अगर आप लोगों की यही इच्छा है, तो यही होगा।"

देवप्रकाश ने देखा, बात का बतंगड़ हुआ चाहता है, तो ज्ञानप्रकाश को इशारे से टाल दिया, और पत्नी के क्रोध को शांत करने की चेष्टा करने लगे। मगर देवप्रिया फूट-फूटकर रो रही थी, बार-बार कहती थी—"मैं इसकी सूरत न देखूँगी।" अंत में देवप्रकाश ने चिढ़कर कहा—"तो तुम्हीं ने तो कटु वचन कहकर उसे उत्तेजित कर दिया।"

देवप्रिया—"यह सब विष उसी चांडाल ने बोया है, जो यहाँ से सात समुद्र-पार बैठा हुआ मुझे मिट्टी में मिलाने का उपाय कर रहा है। मेरे बेटे को मुझसे छीनने ही के लिये उसने यह प्रेम का स्वाँग भरा है। मैं उसकी नस-नस पहचानती हूँ। उसका यह मंत्र मेरी जान लेकर छोड़ेगा; नहीं तो मेरा ज्ञानू, जिसने कभी मेरी बात का जवाब नहीं दिया, यों मुझे न जलाता।"

देव०—"अरे, तो क्या वह विवाह ही न करेगा! अभी

ग़ुस्से में अनाप-शनाप बक गया है। ज़रा शांत हो जायगा, तो मैं समझाकर राज़ी कर दूँगा।"

देवप्रिया—"मेरे हाथ से निकल गया।"

देवप्रिया की आशंका सत्य निकली। देवप्रकाश ने बेटे को बहुत समझाया। कहा, तुम्हारी माता इस शोक में मर जायगी। किंतु कुछ असर न हुआ। उसने एक बार 'नहीं' कहकर 'हाँ' न की। निदान वह भी निराश होकर बैठ रहे।

तीन साल तक प्रतिवर्ष विवाह के दिनों में यह प्रश्न उठता रहा, पर ज्ञानप्रकाश अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। माता का रोना-धोना निष्फल हुआ। हाँ, उसने माता की एक बात मान ली—वह भाई से मिलने कलकत्ते न गया।

तीन साल में घर में बड़ा परिवर्तन हो गया। देवप्रिया की तीनो कन्याओं का विवाह हो गया। अब घर में उसके सिवा कोई स्त्री न थी। सूना घर उसे खाए लेता। जब वह नैराश्य और क्रोध से व्याकुल हो जाती, तो सत्यप्रकाश को ख़ूब जी भरकर कोसती। मगर दोनो भाइयों में प्रेम-पत्र-व्यवहार बराबर होता रहता था।

देवप्रकाश के स्वभाव में एक विचित्र उदासीनता प्रकट होने लगी। उन्होंने पेंशन ले ली थी, और प्रायः धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। ज्ञानप्रकाश ने भी 'आचार्य' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, और एक विद्यालय में अध्यापक हो गए थे। देवप्रिया अब संसार में अकेली थी।

देवप्रिया अपने पुत्र को गृहस्थी की ओर खींचने के लिये नित्य टोने-टोटके किया करती। बिरादरी में कौन-सी कन्या सुंदर है, गुणवती है, सुशिक्षिता है—उसका बखान किया करती, पर ज्ञानप्रकाश को इन बातों के सुनने की भी फ़ुरसत न थी।

मुहल्ले के और घरों में नित्य ही विवाह होते रहते थे। बहुएँ आती थीं, उनकी गोद में बच्चे खेलने लगते थे, घर गुलज़ार हो जाता था। कहीं बिदाई होती थी, कहीं बधाइयाँ आती थीं, कहीं गाना-बजाना होता था, कहीं बाजे बजते थे। यह चहल-पहल देखकर देवप्रिया का चित्त चंचल हो जाता। उसे मालूम होता, मैं ही संसार में सबसे अभागिनी हूँ। मेरे ही भाग्य में यह सुख भोगना नहीं बदा है। भगवान्, ऐसा भी कोई दिन आवेगा कि मैं अपनी बहू का मुख-चंद्र देखूँगी, बालकों को गोद में खिलाऊँगी। वह भी कोई दिन होगा कि मेरे घर में भी आनंदोत्सव के मधुर गान की तानें उठेंगी! रात-दिन ये ही बातें सोचते-सोचते देवप्रिया की दशा उन्मादिनी की-सी हो गई। आप-ही-आप सत्यप्रकाश को कोसने लगती—वही मेरे प्राणों का घातक है। तल्लीनता उन्माद का प्रधान गुण है। तल्लीनता अत्यंत रचनाशील होती है। वह आकाश में देवताओं के विमान उड़ाने लगती है। अगर भोजन में नमक तेज़ हो गया, तो यह शत्रु ने कोई रोड़ा रख दिया होगा। देवप्रिया को अब कभी-कभी धोखा

हो जाता कि सत्यप्रकाश घर में आ गया है, वह मुझे मारना चाहता है, ज्ञानप्रकाश को विष खिलाए देता है। एक दिन उसने सत्यप्रकाश के नाम एक पत्र लिखा, और उसमें जितना कोसते बना, कोसा—"तू मेरे प्राणों का वैरी है, मेरे कुल का घातक है, हत्यारा है। वह कौन दिन आवेगा कि तेरी मिट्टी उठेगी। तूने मेरे लड़के पर वशीकरण-मंत्र चला दिया है।" दूसरे दिन फिर ऐसा ही एक पत्र लिखा, यहाँ तक कि यह उसका नित्य का कर्म हो गया। जब तक एक चिट्ठी में सत्य-प्रकाश को गालियाँ न दे लेती, उसे चैन ही न आता! इन पत्रों को वह कहारिन के हाथ डाकघर भिजवा दिया करती थी।

(१०)

ज्ञानप्रकाश का अध्यापक होना सत्यप्रकाश के लिये घातक हो गया। परदेश में उसे यही संतोष था कि मैं संसार में निराधार नहीं हूँ। अब यह अवलंब जाता रहा। ज्ञानप्रकाश ने जोर देकर लिखा—"अब आप मेरे हेतु कोई कष्ट न उठावें। मुझे अपनी गुजर करने के लिये काफ़ी से ज्यादा मिलने लगा है।"

यद्यपि सत्यप्रकाश की दूकान ख़ूब चलती थी, लेकिन कलकत्ते जैसे शहर में एक छोटे-से दूकानदार का जीवन बहुत सुखी नहीं होता। ६०-७०) की मासिक आमदनी होती ही क्या है? अब तक वह जो कुछ बचाता था, वह वास्तव में बचत न थी, बल्कि त्याग था। एक वक्त, रूखा-सूखा खाकर, एक तंग, आर्द्र

कोठरी में रहकर २५-३०) बच रहते थे। अब दोनो वक्त भोजन मिलने लगा। कपड़े भी ज़रा साफ़ पहनने लगा। मगर थोड़े ही दिनों में उसके ख़र्च में ओषधियों की एक मद बढ़ गई। फिर वही पहले की-सी दशा हो गई। बरसों तक शुद्ध वायु, प्रकाश और पुष्टिकर भोजन से वंचित रहकर अच्छे-से-अच्छा स्वास्थ्य भी नष्ट हो सकता है। सत्यप्रकाश को अरुचि, मंदाग्नि आदि रोगों ने आ घेरा। कभी-कभी ज्वर भी आ जाता। युवावस्था में आत्मविश्वास होता है। किसी अवलंब की परवा नहीं होती। वयोवृद्धि दूसरों का मुँह ताकती है, कोई आश्रय ढूँढ़ती है। सत्यप्रकाश पहले सोता, तो एक ही करवट में सवेरा हो जाता। कभी बाज़ार से पूरियाँ लेकर खा लेता, कभी मिठाई पर टाल देता। पर अब रात को अच्छी तरह नींद न आती, बाज़ारू भोजन से घृणा होती, रात को घर आता, तो थककर चूर-चूर हो जाता। उस व.क्त चूल्हा जलाना, भोजन पकाना बहुत अखरता। कभी-कभी वह अपने अकेलेपन पर रोता। रात को जब किसी तरह नींद न आती, तो उसका मन किसी से बातें करने को लालायित होने लगता। पर वहाँ निशांधकार के सिवा और कौन था ? दीवालों के कान चाहे हों, मुँह नहीं होता। इधर ज्ञान-प्रकाश के पत्र भी अब कम आते थे, और वे भी रूखे। उनमें अब हृदय के सरल उद्गारों का लेश भी न रहता। सत्यप्रकाश अब भी वैसे ही भावमय पत्र लिखता था ; पर एक अध्यापक

के लिये भावुकता कब शोभा देती ? शनैः-शनैः सत्यप्रकाश को भ्रम होने लगा कि ज्ञानप्रकाश भी मुझसे निष्ठुरता करने लगा, नहीं तो क्या मेरे पास दो-चार दिन के लिये आना असंभव था ? मेरे लिये तो घर का द्वार बंद है, पर उसे कौन-सी बाधा है ? उस ग़रीब को क्या मालूम कि यहाँ ज्ञान-प्रकाश ने माता से कलकत्ते न जाने को क़सम खा ली है। इस भ्रम ने उसे और भी हताश कर दिया।

शहरों में मनुष्य बहुत होते हैं, पर मनुष्यता बिरले ही में होती है। सत्यप्रकाश उस बहुसंख्यक स्थान में भी अकेला था। उसके मन में अब एक नई आकांक्षा अंकुरित हुई। क्यों न घर लौट चलूँ ? किसी संगिनी के प्रेम की क्यों न शरण लूँ ? वह सुख और शांति और कहाँ मिल सकती है ? मेरे जीवन के निराशांधकार को और कौन ज्योति आलोकित कर सकती है ? वह इस आवेश को अपनी संपूर्ण विचार-शक्ति से रोकता, पर जिस भाँति किसी बालक को घर में रक्खी हुई मिठाइयों की याद बार-बार खेल से घर खींच लाती है, उसी तरह उसका चित्त भी बार-बार उन्हीं मधुर चिंताओं में मग्न हो जाता था। वह सोचता, मुझे विधाता ने सब सुख से वंचित कर दिया है, नहीं तो मेरी दशा ऐसी हीन क्यों होती ? मुझे ईश्वर ने बुद्धि नहीं दी थी क्या ? क्या मैं श्रम से जी चुराता था ? अगर बालपन में ही मेरे उत्साह और अभिरुचि पर तुषार न पड़ गया होता, मेरी

बुद्धि-शक्तियों का गला न घोट दिया गया होता, तो मैं भी आज आदमी होता, पेट पालने के लिये इस विदेश में न पड़ा रहता। नहीं, मैं अपने ऊपर यह अत्याचार न करूँगा।

महीनों तक सत्यप्रकाश के मन और बुद्धि में यह संघर्ष होता रहा। एक दिन वह दूकान से आकर चूल्हा जलाने जा रहा था कि डाकिए ने पुकारा। ज्ञानप्रकाश के सिवा उसके पास और किसी के पत्र न आते थे। आज ही उनका पत्र आ चुका था। यह दूसरा पत्र क्यों? किसी अनिष्ट की आशंका हुई। पत्र लेकर पढ़ने लगा। एक क्षण में पत्र उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा, और वह सिर थामकर बैठ गया कि जमीन पर न गिर पड़े। यह देवप्रिया की विष-युक्त लेखनी से निकला हुआ ज़हर का तीर था, जिसने एक पल में उसे संज्ञा-हीन कर दिया। उसकी सारी मर्मांतक व्यथा—क्रोध, नैराश्य, कृतघ्नता, ग्लानि—केवल एक ठंडी साँस में समाप्त हो गई।

वह जाकर चारपाई पर लेट रहा। मानसिक व्यथा आप-से-आप पानी हो गई। हा! सारा जीवन नष्ट हो गया! मैं ज्ञानप्रकाश का शत्रु हूँ? मैं इतने दिनों से केवल उसके जीवन को मिट्टी में मिलाने के लिये ही प्रेम का स्वाँग भर रहा हूँ? भगवन्! तुम्हीं इसके साक्षी हो!

तीसरे दिन फिर देवप्रिया का पत्र पहुँचा। सत्यप्रकाश ने उसे लेकर फाड़ डाला। पढ़ने की हिम्मत न पड़ी।

एक ही दिन पीछे तीसरा पत्र पहुँचा। उसका भी वही अंत

हुआ। फिर तो यह एक नित्य का कर्म हो गया। पत्र आता, और फाड़ दिया जाता। किंतु देवप्रिया का अभिप्राय विना पढ़े ही पूरा हो जाता था—सत्यप्रकाश के मर्म-स्थान पर एक चोट और पड़ जाती थी।

एक महीने की भीषण हार्दिक वेदना के बाद सत्यप्रकाश को जीवन से घृणा हो गई। उसने दूकान बंद कर दी, बाहर आना-जाना छोड़ दिया। सारे दिन खाट पर पड़ा रहता। वे दिन याद आते, जब माता पुचकारकर गोद में बिठा लेतीं, और कहती, बेटा! पिता संध्या-समय दफ़्तर से आकर गोद में उठा लेते, और कहते, भैया! माता की सजीव मूर्ति उसके सामने आ खड़ी होती, ठीक वैसी ही, जब वह गंगा-स्नान करने गई थी। उसकी प्यार-भरी बातें कानों में गूँजने लगतीं। फिर वह दृश्य सामने आता, जब उसने नव-वधू माता को 'अम्मा' कहकर पुकारा था। तब उसके कठोर शब्द याद आ जाते, उसके क्रोध से भरे हुए विकराल नेत्र आँखों के सामने आ जाते। उसे अपना सिसक-सिसककर रोना याद आ जाता। फिर सौर-गृह का दृश्य सामने आता। उसने कितने प्रेम से बच्चे को गोद में लेना चाहा था! तब माता के वज्र के-से शब्द कानों में गूँजने लगते। हाय! उसी वज्र ने मेरा सर्वनाश कर दिया! ऐसी कितनी ही घट-नाएँ याद आतीं। कभी विना किसी अपराध के मा का डाट बताना, और कभी पिता का निर्दय, निष्ठुर व्यवहार याद आने

लगता। उनका बात-बात पर त्योरियाँ बदलना, माता के मिथ्यापवादों पर विश्वास करना—हाय! मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया! तब वह करवट बदल लेता, और फिर वे ही दृश्य आँखों में फिरने लगते। फिर करवट बदलता, और चिल्ला उठता—इस जीवन का अंत क्यों नहीं हो जाता!

इस भाँति पड़े-पड़े उसे कई दिन हो गए। संध्या हो गई थी कि सहसा उसे द्वार पर किसी के पुकारने की आवाज़ सुनाई पड़ी। उसने कान लगाकर सुना, और चौंक पड़ा। कोई परिचित आवाज़ थी। दौड़ा द्वार पर आया, तो देखा, ज्ञानप्रकाश खड़ा है। कितना रूपवान् पुरुष था! वह उसके गले से लिपट गया। ज्ञानप्रकाश ने उसके पैरों को स्पर्श किया। दोनो भाई घर में आए। अंधकार छाया हुआ था। घर की यह दशा देखकर ज्ञानप्रकाश, जो अब तक अपने कंठ के आवेग को रोके हुए था, रो पड़ा। सत्यप्रकाश ने लालटेन जलाई। घर क्या था, भूत का डेरा था। सत्यप्रकाश ने जल्दी से एक कुरता गले में डाल लिया। ज्ञानप्रकाश भाई का जर्जर शरीर, पीला मुख, बुझी हुई आँखें देखता और रोता था।

सत्यप्रकाश—"मैं आजकल बीमार हूँ।"

ज्ञानप्रकाश—"यह तो देख ही रहा हूँ।"

सत्य०—"तुमने अपने आने की सूचना भी न दी, मकान का पता कैसे चला?"

ज्ञान०—"सूचना तो दी थी, आपको पत्र न मिला होगा।"

सत्य०—"अच्छा, हाँ, दी होगी, पत्र दूकान में पड़ा होगा। मैं इधर कई दिन से दूकान नहीं गया। घर पर सब कुशल है?"

ज्ञान०—"माताजी का देहांत हो गया!"

सत्य०—"अरे! क्या बीमार थीं?"

ज्ञान०—"जी नहीं। मालूम नहीं, क्या खा लिया। इधर उन्हें उन्माद-सा हो गया था। पिताजी ने कुछ कटु वचन कहे थे, शायद इसी पर कुछ खा लिया।"

सत्य०—"पिताजी तो कुशल से हैं?"

ज्ञान०—"हाँ, अभी मरे नहीं हैं।"

सत्य०—"अरे! क्या बहुत बीमार हैं?"

ज्ञान०—"माता ने विष खा लिया था। पिताजी उनका मुँह खोलकर दवा पिला रहे थे। माताजी ने ज़ोर से उनकी दो उँगलियाँ काट लीं। वही विष उनके शरीर में पहुँच गया। तब से सारा शरीर सूज आया है। अस्पताल में पड़े हुए हैं, किसी को देखते हैं, तो काटने दौड़ते हैं। बचने की आशा नहीं है।"

सत्य०—"तब तो घर ही चौपट हो गया!"

ज्ञान०—"ऐसे घर को अब से बहुत पहले चौपट हो जाना चाहिए था।"

❀ ❀ ❀

तीसरे दिन दोनो भाई प्रातःकाल कलकत्ते से विदा होकर चल दिए।